# आलोचना

## सम्पादकीय

### प्रगति की ओर

पत्रिका के पिछले अंकों में जो सम्पादकीय प्रकाशित हुए हैं, हमारी दृष्टि में उनकी मूलवर्ती प्रेरणा स्वस्थ समीक्षा ही रही है। नये साहित्य का विरोध निश्चय ही उनका साध्य नहीं रहा। कुछ भू-गर्भीय क्षेत्रों से यह आवाज उठी है कि पूर्वग्रह से संयुक्त होकर ये लेख लिखे गए हैं। परन्तु सन्तोष है कि ये आवाज़ें हमें रसातल की ओर नहीं ले जा सकेंगी। हम स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि हमारी नीति नये साहित्य के सृजन एवं विकास में योग देना है। ऐसी पत्रिका का कोई अन्य उद्देश्य हो भी क्या सकता है जो सार्वजनिक चेतना के क्षेत्र में अपना प्रसार चाहती है। एक विराट् अस्वीकार का राजदण्ड लेकर अधिनायकत्व की अनुभूति करना हमारी महत्त्वाकांक्षा से बहुत दूर है। किन्तु समीक्षक का एक दायित्व होता है जिससे विमुख होना न तो उसके पक्ष में हितकर है और न सृजनशील साहित्य के ही पक्ष में। वही स्वर यहाँ उठाये गए हैं जिन्हें रोकना उचित न था और समीक्षा में उन तत्त्वों का ही विरोध किया गया है जिन्हें प्रश्रय देना समीचीन न होता। यह स्पष्ट जान लेना चाहिए कि प्रत्येक विधि के साथ कुछ निषेध अनिवार्य रूप में संलग्न होते हैं, और प्रत्येक स्वीकार कुछ अस्वीकारों से युक्त होता है। उदाहरणार्थ यदि हम काव्य को स्वीकार करते हैं तो यह मान लेना होगा कि कुछ ऐसी बातें हैं जिन्हें उसके साथ होना ही चाहिए तथा कुछ ऐसी भी हैं जो हो नहीं सकतीं।

काव्य की स्वीकृति तत्काल उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और साहित्य के कतिपय स्थायी प्रतिमानों को हमारे समक्ष उपस्थित करती है। ये दोनों ही तत्त्व ऐसे हैं जिनकी किसी भी काव्य-आन्दोलन के मूल्यांकन में अवहेलना नहीं की जा सकती। तथाकथित नई रुचि पूर्व-निर्मित काव्य-चेतना की समष्टि के पूर्ण तिरस्कार पर विकसित नहीं हो सकती। काव्य कोई ऐसी कला नहीं जिसका कुछ लोग आज आविष्कार कर रहे हैं। भारतीय काव्य की एक सुदीर्घ परम्परा है और उसमें उत्कर्ष के अनेक आलोक-शिखर हैं। ऐसी उपलब्धियों की सत्ता शाश्वत है

और काव्य-सौन्दर्य एवं मूल्य की हमारी चेतना उनसे ही निर्मित है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि एक नये उत्कर्ष का सृजन अब नहीं हो सकता। वह तो एक मुखर आवश्यकता है। किन्तु पूर्व उपलब्धियों का सम्यक् योग उसकी सिद्धि के लिए वाञ्छित है। इसी प्रकार भाव, अनुभूति और रस के साथ एक वस्तून्मुखता का तत्त्व भी काव्य में होता है, जिसके कारण वह कवि की व्यक्तिगत वस्तु न रहकर सामाजिक आस्वाद और आह्लाद की वस्तु बनता है। अपने व्यक्तिगत भावों में अत्यधिक तल्लीनता और उनकी यथारूप व्यञ्जना कवि को कलाकार नहीं बनाती। कलाकारिता व्यक्तिगत को विश्वात्मक धरातल पर उठाने में सन्निहित है। इसलिए अपने लेखों में हमने वर्तमान काव्य में प्राप्त होने वाली अत्यधिक अन्तर्मुखता का विरोध किया है। अनास्था और विदेशी शैलियों के अनुकरण से भी सत्काव्य की सृष्टि नहीं होती। यह उचित ही है कि समय पर इन तथ्यों की ओर संकेत किया जाय। साहित्य की रूप और कलागत विशेषताएँ भी होती हैं। वर्तमान काव्य में अभ्यास की क्षीणता अथवा असावधानी के फलस्वरूप कला-पक्ष विकलांग प्रतीत होता है। कदाचित् विदेशी लयों का अनुकरण भी इसका एक कारण है। जो कवि-कर्म में प्रेरित होते हैं उन्हें वक्तव्य वस्तु के साथ अभिव्यञ्जना की शैलियों और माध्यम पर अधिकार से समन्वित होना चाहिए। लय की साधना में अपनी भाषा की प्रकृति को ध्यान में रखना भी आवश्यक है। वर्तमान परिस्थितियों में इन उपेक्षित तथ्यों की ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक रहा है। पिछले बीस-पच्चीस वर्षों में समग्र रूप में हिन्दी-साहित्य की जो प्रगति हुई है वह आशापूर्ण है और यह विश्वास दिलाती है कि उसका भविष्य अन्धकाराच्छन्न नहीं है। यहाँ हम आगामी विवेचन की पूर्व-पीठिका के रूप में पिछले दो दशकों के हिन्दी-साहित्य की समग्र प्रगति पर दृष्टिपात कर रहे हैं। अगले अंकों में एक-एक साहित्य-रूप को लेकर विस्तार के साथ पृथक्-पृथक् चर्चा करने का अवसर भी हमें मिलेगा।

सर्वप्रथम हम समीक्षा के क्षेत्र को लेते हैं। द्विवेदी-युग की चेतना के अनुरूप समीक्षादर्शों की जो परिणति हुई वह इस क्षेत्र में आधुनिक युग की हमारी प्रथम उपलब्धि थी। यह उपलब्धि महत्त्वपूर्ण होते हुए भी स्वभावतः सीमित थी। रूढ़िगत निर्जीवता के पाश को छिन्न-भिन्न करके साहित्य को जीवन के समीप लाकर एक विशेष धरातल पर साहित्य-मूल्यों की स्थापना की गई। मूल्यों की इस व्यवस्था में एक विशेष प्रकार के नैतिक दृष्टिकोण का कम हाथ नहीं था। जहाँ एक ओर भारतीय काव्य-शास्त्र के पुनरुत्थान के साथ पश्चिम की मूल्य-चेतना के अनुकूल तत्त्वों का समाहार हुआ, वहाँ दूसरी ओर, कलादृष्टि बाह्य तत्त्वों के मिश्रण से पूर्णतया मुक्त न हो पाई। इसके पश्चात् हिन्दी-समीक्षा बहुत क्षिप्र गति से आगे बढ़ी है। छायावाद-युग में एक नये धरातल पर समीक्षा-दृष्टि का उन्नयन हुआ। कला की अधिक सूक्ष्म और शुद्ध चेतना, नीतिपरक दृष्टि के स्थान पर मानववादी दृष्टि का आग्रह, नियम के स्थान पर संवेदनशीलता का उत्कर्ष और काव्य-सौष्ठव के प्रति अधिक अभिरुचि उसकी मुख्य विशेषताएँ थीं। इसके साथ ही हिन्दी-समीक्षा में अनेकमुखी वस्तुपरकता का आगमन भी हुआ। विज्ञान और मनोविज्ञान, इतिहास और समाज-शास्त्र की नई शोधों का आक-

लन साहित्य-समीक्षा के धरातल पर किया गया। एक अधिक वैज्ञानिक दृष्टि विकसित हुई और सांस्कृतिक भूमिका पर साहित्यिक मूल्यांकन की प्रवृत्ति दृढ़मूल हुई।

समृद्धि के उपर्युक्त लक्षणों के साथ हिन्दी के क्षेत्र में वादों का प्रभाव बढ़ने से समीक्षक के सामने एक नई परिस्थिति उत्पन्न हो गई। हम प्रगतिवाद के आरम्भिक प्रवेश को ही लें, तो देखेंगे कि उसने समीक्षकों के दो पूर्णतया पृथक् वर्गों की सृष्टि कर दी। एक वर्ग में वे समीक्षक थे जो नये सिद्धान्त को उन्मुक्त उत्साह के साथ अपनाकर साहित्य-मीमांसा में उसके कठोर प्रयोग में अग्रसर हुए। इस कार्य में सैद्धान्तिक दृष्टि-कोण तो प्रधान हो जाता था और साहित्य की स्थिति गौण रह जाती थी। साहित्यिक कृतियों में सामाजिक चेतना के वर्गवादी विश्लेषण की प्रणाली उन्होंने ही चलाई। इस प्रकार के वाक्य समीक्षा में प्रचलित हुए कि अमुक कृति मध्यवर्ग की ह्रासोन्मुखी चेतना का चित्र उपस्थित करती है और अमुक कृति सर्वहारा वर्ग के ऐतिहासिक कार्य को वैज्ञा-निक रूप नहीं देती। दूसरे वर्ग ने इसे एक अतिवादी दृष्टि घोषित किया और उसके प्रयो-क्ताओं पर असाहित्यिकता का आरोप लगाया। इस आरोप का मन्तव्य यह था कि उल्लिखित समीक्षा-शैली काव्येतर तत्त्वों को प्रश्रय देती है किन्तु साहित्य और कला की मौलिक विशेषताएँ उसमें उपेक्षित रह जाती हैं। आज यह परि-स्थिति भी पर्याप्त बदल गई है। एक प्रकार के सामञ्जस्य का आविर्भाव हो चला है और कृतियों एवं कृतित्व को सामाजिक परि-पार्श्व में रखकर कला-मूल्यों के प्रति निष्ठा भी आयत्त कर ली गई है। यह सत्य है कि पूर्ण समरसता अभी नहीं आई किन्तु समीक्षा की गति उसी ओर है। तटस्थ वैज्ञानिक दृष्टि के उन्मेष के साथ विशेष आग्रहों और पूर्वग्रहों से मुक्त होती हुई हिन्दी-समीक्षा अपने प्रथम आधुनिक उत्थान से कहीं अधिक वस्तुनिष्ठ हो चली है।

भारतीय समीक्षा-पद्धति के पुनर्निर्माण के प्रयत्नों के साथ इस क्षेत्र में पश्चिम की समृद्ध निधि के महत्त्वपूर्ण तत्त्वों के आकलन का कार्य भी आगे बढ़ता रहा है। वर्तमान युग की आवश्यकताओं को देखते हुए इसकी सार्थकता और उपयोगिता में सन्देह नहीं किया जा सकता। प्रसन्नता की बात यह है कि पश्चिम के मूल्य ग्रहण करने वाले सचेत हैं और इस कार्य में भारत की परिस्थितिजन्य और सांस्कृतिक विशेषताओं को भी ध्यान में रखने का प्रयास करते हैं।

इस विकसित चेतना का यह परिणाम है कि सार्वजनिक पत्र-पत्रिकाओं में कोई समीक्षक बहुत अधिक अन्तर्मुख प्रवृत्तियों का समर्थन करने के लिए प्रस्तुत नहीं। यह एक आशा-लक्षण है जो संकेत करता है कि यद्यपि उचित ज्ञान और चिन्तन के लिए हमारे द्वार सदा खुले हैं, तथापि हम विदेशी प्रतिमानों से प्रभावित होकर उन्हें ज्यों-का-त्यों अपनाने के पक्ष में नहीं हैं। हम कह सकते हैं कि विविध क्षेत्रों से तत्त्व संचय करके हिन्दी-समीक्षा अपनी विशिष्ट भूमि पर खड़ी रहकर एक विशालतर एकान्वय के लिए प्रयासशील है।

मानववाद किसी विशेष साहित्य-सम्प्र-दाय की वस्तु न होकर समस्त कला के प्राण-तत्त्व के रूप में मान्य है। रीतिकाल की मनुष्य-निरपेक्ष दृष्टि के स्थान पर आधुनिक युग में जिस मानववादी दृष्टिकोण का सूत्रपात हुआ, उसका अधिक विकसित रूप आज दिखाई दे रहा है। मानववादी दृष्टि से भिन्न किसी भी अन्य दृष्टि में अन्ततः एक संकीर्णता

सन्निहित रहती है। उसमें मनुष्य के स्वरूप का आकलन एकांगी हुए बिना नहीं रहता। मानव-जीवन के साथ साहित्य का जो घनिष्ठ सम्बन्ध है उसकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करने में हमारी मानववादी दृष्टि ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। अब हम प्रगति के द्वितीय सोपान पर हैं और हिन्दी-समीक्षा में उस मानववादी दृष्टि का प्रसार देख रहे हैं जो मनुष्य को उसके प्रकृत-रूप में देखती है और प्रत्येक स्थिति में नैतिक अथवा वैचारिक पक्षपात से विरहित होकर मूल तथ्य के समीप रहती है। कलाकार का जीवन-दर्शन इसीलिए अधिक गम्भीर माना गया है कि मनुष्य के स्वीकार में वह दूसरी सारी सत्ताओं को गौण मानता है।

वर्तमान समय में समीक्षा की प्रगति का यह एक संक्षिप्त रेखाङ्कन है। समीक्षा से भिन्न साहित्यिक और वैचारिक निबन्धों में भी एक व्यापकता आ रही है। प्राचीन और विदेशी साहित्यों के अध्ययन द्वारा एक विश्व-दृष्टि अपनाने की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है। सतर्कतापूर्वक किये गए ऐसे प्रयासों के परिणामस्वरूप चेतना के सम्भव विकास की कल्पना स्पष्टतः की जा सकती है। वास्तव में एक उत्थान को प्राप्त करके उसकी उपलब्धियों को आधार बनाकर हम पुनः एक संक्रमण-काल में प्रविष्ट हो चुके हैं। इस संक्रमण-काल की परिणति की दिशा भी पर्याप्त स्पष्ट हो चली है और उसके भविष्य-समन्वय की झलक मिलने लगी है। द्विवेदी-युग में एक विशेष प्रकार की गम्भीरता के कारण ललित निबन्धों का क्षेत्र बहुत-कुछ कुण्ठित हो गया था। आज इस क्षेत्र में भी हम अच्छी प्रगति देख रहे हैं और भारतेन्दु-युग की स्वच्छन्द-शैली की पुनः अवतारणा सम्भावित प्रतीत होती है।

हिन्दी-कविता के क्षेत्र में स्थिति कुछ भिन्न है। छायावाद के पश्चात् कोई उतना बड़ा कवि-व्यक्तित्व नहीं आया जितना प्रसाद और निराला का था। कदाचित् इसी कारण हिन्दी-कविता की सम्भावनाओं पर सन्देह और वैचित्र्य पर विश्वास होता रहा है। किन्तु यह ध्यान रखना होगा कि काव्य में उत्कर्ष के युग पास-पास नहीं आते। कुछ असाधारण क्षमता के कवि अभी-अभी आ चुके थे, जिनकी तुलना में वर्तमान कवि क्षीणाभ दिखाई देने लगे हैं।

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि प्रगतिवाद और प्रयोगवाद दोनों ने अतिवादी दृष्टिकोण अपनाकर काव्य-भूमि के प्रसार को दो छोरों में सीमित कर दिया। वह प्रशस्त भूमिका किनारे ही छूट गई जिसकी ओर हिन्दी-काव्य अग्रसर हो रहा था। इस प्रकार स्वयं आरोपित सीमा को अपनाकर कविगण कोई उल्लेखनीय उपलब्धि नहीं कर पाए। एक ओर जहाँ तथाकथित सामाजिक आक्रोश का शोर उठा वहाँ दूसरी ओर कुण्ठित व्यक्तित्व की कसक अपने अधूरेपन पर विद्रूप की मुद्रा लेकर आई। किन्तु यह कमी भी समय पाकर दूर होगी, क्योंकि इस क्षेत्र में नई प्रतिभा का उन्मेष बहुत दिनों से प्रत्याशित है।

कुछ कवियों ने जान-बूझकर विद्रूप काव्य-रचना का बीड़ा उठा लिया। नैसर्गिक परिणाम के रूप में उनकी रचना में एक व्यक्तिगत विदूषकपन ही दिखाई पड़ता है। सामान्यता में जो अन्यतम हैं, उन्हें भी विज्ञापन के द्वारा बढ़ाने की विधि प्रचलन में आ गई है। हमारे काव्य-क्षेत्र में कलागत ईमानदारी के लिए बहुत-कुछ स्थान दिखाई देता है। विज्ञापन से क्षणिक उछाल तो सम्भव हो सकता है, किन्तु उसे पुष्पक विमान नहीं बनाया जा सकता।

किन्तु वास्तव में निराशा की कोई आवश्यकता नहीं। निकट भविष्य में हम ऐसे कवियों का आगमन सम्भावित देखते हैं जो इस स्थिति को बदलकर फिर एक नए उत्कर्ष का साधन करेंगे। हमारा यह निर्णय निराधार नहीं है। उसका कारण साहित्य के दूसरे क्षेत्रों में होने वाली प्रगति है। जब समग्र रूप में साहित्य ऊर्ध्वगतिक है, तब काव्य-क्षेत्र ही अनुर्वर बना रहेगा, यह सोचा नहीं जा सकता।

हम फिर यह दुहराना चाहेंगे कि विदेशी अनुकरण के सहारे साहित्य ऊपर नहीं उठ सकता। काव्य की सत्ता ध्वनि में है, प्रतिध्वनि में नहीं। कुछ विद्वानों ने विश्व-धरातल के नाम पर विदेशी अनुकरण को वांछित बताया है, पर जो प्रबुद्ध और काव्यनिष्ठ हैं वे इस भ्रान्ति को प्रश्रय नहीं देंगे। काव्य और साहित्य में सार्वभौमता का एक गुण है किन्तु उसकी सिद्धि राष्ट्रीय माध्यम से ही सम्भव और उचित है। हमारी राष्ट्रीय विशेषता हमारे काव्य को उसका विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करती है और उस राष्ट्रीय स्वरूप के माध्यम से अभिव्यक्त हमारी कला सार्वभौम बनती है। अपने विशिष्ट व्यक्तित्व को खोकर काव्य सार्वभौम तो होगा ही नहीं, अपने राष्ट्रीय और कलात्मक मूल्य भी खो देगा। उसकी स्थिति अपने को विश्व-नागरिक घोषित करने वाले उस 'पाश्चात्य' के समान होगी जिसे कोई देश अपनी सीमा में प्रवेश देने के लिए तैयार नहीं।

नाटक का उल्लेख सदा हिन्दी में रंगमंच के अभाव का स्मरण दिलाता है। यह एक बहुत बड़ी कमी है और हिन्दी-नाट्य-साहित्य पर उसकी गहरी प्रतिक्रिया हुई है। पर इसका यह आशय नहीं कि नाटक के क्षेत्र में हिन्दी में कोई प्रगति हुई ही नहीं। नाटक यदि रंगमंच और अभिनय की वस्तु है तो उसके साथ साहित्य की भी वस्तु है। इस रूप में हम उसे प्रदेय और विकास से युक्त पाते हैं।

प्रसाद के नाटकों की रचना स्वच्छन्दतावादी धारा के अनुरूप हुई। रंगमंच और प्रदर्शन के अभाव के कारण न तो नाटककार ही नाटकों के व्यावहारिक रूप के विषय में किसी सर्वसम्मत निर्णय पर पहुँच सका; और न दर्शकों का एक शिष्टमण्डल ही निर्मित हो सका, जो अभिनय और नाट्य-दर्शन के लिए अपनी ओर से प्रयत्नशील होता। परिणामस्वरूप इन नाटकों की अभिनेयता का प्रश्न सदा अन्धकार में बना रहा। इसीलिए प्रसाद उनमें पाठ्य गुणों की योजना के प्रति विशेष सचेष्ट रहे हैं और उस उत्कर्ष की साधना की है जो साहित्य के रूप में सम्भव है।

प्रसाद के नाटकों में नाटक के मूल गुण, संघर्ष, की अच्छी योजना है। जो संघर्ष उनमें प्रस्तुत है वह वैयक्तिक चरित्र और सामाजिक चरित्र अथवा परिस्थिति का संघर्ष है। इसके आधार पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सामाजिक दायित्व के परस्पर-विरोध को प्रदर्शित करते हुए एक दार्शनिक धारणा के योग से उनमें सामंजस्य स्थापित करने का अवसर उन्हें मिला। इस भूमिका में मनुष्य के अन्त:संघर्ष और उसके मनोभावों की दृश्य-राजि के एक विशाल भाग को उन्होंने कलात्मक रूप में अभिव्यक्त किया। दार्शनिक दृष्टिकोण के संयोग द्वारा पात्रों को विराट् और सार्वभौमता की स्थिति पर वे उठा सके। यह कम श्रेय की बात नहीं कि रंगमंच के अभाव में उन्होंने अपनी कृतियों में मूल नाटकीय गुणों की सृष्टि की।

प्रसाद के पश्चात् यथार्थवाद के नाम पर जो कृतियाँ आईं उन्हें नये शिल्प का प्रवर्तक माना जा सकता है। ऐसी कृतियों में

यथार्थवाद की अन्विति हमें दो धरातलों पर दिखाई देती है। एक स्थिति में इब्सन और शॉ के दृष्टिकोण को अपनाकर चलने का प्रयास किया गया है। ऐसी कृतियों की भूमिकाओं में जो नाट्य-दृष्टि प्रस्तुत की गई है, वह यूरोप के 'नैचुरलिस्टिक थियेटर' की की नाट्य-दृष्टि है। किन्तु इसके साथ एक और आग्रह है। इस मान्यता पर चलने वाले लेखक यह दावा भी करते हैं कि भारतीय-नाट्य-शास्त्र की रूप वादी भूमिका निर्मित करना भी उनका लक्ष्य है। परिणामस्वरूप उनकी कृतियाँ उल्लिखित दो तत्वों के अन्तर्विरोध से ग्रस्त हो गई हैं और उनमें एक सुनिश्चित विकास की रूपरेखा नहीं प्राप्त होती।

यथार्थवाद का दूसरा स्वरूप हमें यथातथ्यवाद के रूप में मिलता है। यथातथ्य की भूमिका पर नाटकीयता बहुत अधिक सीमित स्थिति में पहुँच जाती है। विशाल भूमिका में ऐसी कृतियों का अभिनय कदाचित् ही सफल हो। चरित्र और संवादगत ऐसी रूप-रेखा वहाँ उपस्थित है, जो नाटक के बहुजन प्रिय स्वरूप के विरोध में जाती है। सामान्यता भी नाटकीय के धरातल पर उठाई जा सकती है, किन्तु उसे विशेष और सार्वभौम बनाकर ही। मरु का आभास देने वाले विषरण नाटक जनप्रिय नहीं हो सकते। अभ्यस्त कलाकार उनमें ऊपरी बारीकियाँ ला सकता है और शिल्प को सँवार सकता है; किन्तु उस प्राण-शक्ति और प्रभाव की सृष्टि नहीं कर सकता, जो अभिनेय नाटक की मूल विशेषता है। यथार्थ-वाद और यथातथ्यवाद की इस अनाटकीयता से रक्षा पाने के निमित्त पश्चिम के कतिपय नाटककारों ने प्रतीकों के प्रयोग द्वारा नाटक को अधिक प्रेषणीय और सार्वजनिक बनाने का प्रयत्न किया। फिर भी अभाव बने ही रहे और उन्नीसवीं शताब्दी में कोई महान् नाटक लिखा ही नहीं गया। एक बार पुनः गीति-नाट्यों की ओर यूरोप की प्रवृत्ति बढ़ रही है। जान पड़ता है पश्चिम के साहित्यकारों ने नाटक के क्षेत्र में यथार्थवाद की गद्यात्मक अनुपयोगिता को बहुत-कुछ समझ लिया है और वे उसे पुनः जन-समाज की वस्तु बनाने का उपक्रम कर रहे हैं। अच्छा हो यदि हिन्दी के नाटककार भी अपनी नई नाट्य दिशा का परीक्षण करें और वास्तविक अभिनेय नाटक के निर्माण के उपकरणों को निर्बाध रूप से आने दें।

एकांकी के क्षेत्र में कुछ ऐसे प्रयोग सामने आए हैं, जो आगामी रंगमंच के लिए एक भूमिका का कार्य दे सकते हैं। उनके विन्यास में एक कलात्मक परिपक्वता आ चली है और सम्मिलित रूप में एक विस्तृत भाव-भूमि का आकलन होने लगा है। आधुनिक नाटक में 'कोणार्क' जैसी कृतियाँ उल्लेखनीय हैं, जिनमें नाटक के आगामी विकास की आंशिक झलक दिखाई देती है।

उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचन्द ने जो महत्त्वपूर्ण सीमा-रेखा निर्मित की वह हिन्दी-उपन्यासों के आगामी विकास के लिए विशेष सहायक सिद्ध हुई है। प्रेमचन्द के युग में प्रसाद के उपन्यास अपना वैशिष्ट्य लेकर आए थे, जिनमें चरित्र-रेखाओं का अधिक वैविध्य था और मानव-जीवन के वैचित्र्य—यथार्थमूलक वैचित्र्य भी—बड़ी स्पष्टता से चित्रित हुए थे। प्रसाद जी ने प्रेमचन्द की वर्गगत चित्रण-प्रणाली का विरोध किया था और उपन्यास के लिए अत्यावश्यक स्वच्छन्दता का द्वार उन्मुक्त कर दिया था। विशेषकर उनका अधूरा ऐतिहासिक उपन्यास 'इरावती' अतीत की भूमिका पर सुन्दर औपन्यासिक चित्र उपस्थित कर सका है,

जिसकी तुलना में 'दिव्या'-जैसे ऐतिहासिक उपन्यास भी अरोचक लगते हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों की जो परम्परा हिन्दी में चली, उसमें प्रसाद की स्वच्छन्द चित्रण-शैली की आवश्यक छाप है; परन्तु सामयिक सामाजिक जीवन को अपनाकर लिखे गए उपन्यास विचित्र कुण्ठाओं से समाक्रान्त हो गए हैं। उन उपन्यासों के मूल में कभी-कभी ऊँची दार्शनिक प्रतिपत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। पर सच पूछिए तो उपन्यास का सबसे बड़ा शत्रु दर्शन ही है। जितने प्रतिरोध स्वाभाविक चित्रण में दर्शन लगा सकता है, दूसरी कोई वस्तु नहीं। विशिष्ट वादों की छाया भी हिन्दी-उपन्यास पर पड़ी, जिसके कारण स्वाभाविक लेखन में बाधाएँ उपस्थित होती रहीं। यथार्थ-वाद की अति और मानव-चेतना की अवास्त-विकता प्रदर्शित करने के लिए उपन्यासकारों ने चित्रित चरित्रों को भोंड़ा और असांस्कृतिक बना दिया। दूसरी ओर वैयक्तिक चित्रण और जीवनी की भूमिका अपनाकर अतिशय सुन्दर शैली और शिल्प का आविष्कार किया गया, किन्तु ऐसे उपन्यासों में चित्रित जीवन समाज की किसी प्रशस्त भूमिका पर प्रतिष्ठित नहीं हो पाया। सभी श्रेष्ठ साहित्य के समान उपन्यास भी सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन के मूलवर्ती स्रोतों से सिञ्चित होकर ही दीप्तिमान होता है। उसका इन उपन्यासों में निरा अभाव रहा है। कला के क्षेत्र में कुछ उपलब्धियाँ स्वीकार करनी पड़ेंगी, पर हिन्दी-उपन्यास प्रेमचन्द से बहुत आगे बढ़ चुका है यह कथन ऐसी ही एकांगी कृतियों के साक्ष्य पर कहा गया है जिनका हमने ऊपर उल्लेख किया। वैयक्तिक चरित्र की भूमि पर मनोवैज्ञानिक उपन्यास लिखने वाले और भी लेखक हैं, जिनका मध्यवर्गीय जीवन के चित्रण में थोड़ा-बहुत हाथ है। कुछ उपन्यास अत्यन्त साम-यिक और तात्कालिक वस्तु-योजना को अपनाकर लिखे गए हैं। स्वभावतः उनके चित्रणों में एक सीमित देश-काल का ही उल्लेख है। समय बीत जाने पर लोग उन्हें भूलने लगे हैं।

इस बीच आंचलिक उपन्यासों का शीर्षक लेकर कुछ नई कृतियाँ प्रस्तुत की गई हैं, जो आंचलिक होते हुए भी पूर्णतः राष्ट्रीय और सार्वदेशिक हैं। यह बड़ी मार्मिक असं-गति है कि ये कृतियाँ आंचलिक सीमा में रहकर भी सम्पूर्ण राष्ट्रीय-जीवन को प्रति-बिम्बित कर रही हैं। जिस 'यूनिवर्सलिज्म' या 'सार्वजनिकता' की मरीचिका में दौड़ लगाने की लालसा में अनेक उपन्यासकारों ने नाना नवीन शिल्पों का प्रयोग किया, उसे इतने सहज रूप में, बिना किसी वाद का प्रश्रय लिये, उद्घाटित कर देने का श्रेय इन नये प्रकृतिवादी यथार्थवादियों को है। हिन्दी-उपन्यास का यह उत्थान महान् आशाओं से समन्वित है। प्रेमचन्द के उप-न्यास का आगामी विकास वस्तुतः इन्हीं कृतियो में दिखाई देता है। आश्चर्य यह है कि आंचलिक उपन्यासों की भाषा शिष्ट साहित्यिक भाषा नहीं है फिर भी प्रयुक्त भाषा की अकृत्रिमता देखकर विश्वास होता है कि शिष्ट खड़ी बोली का प्रयोग करने पर भी ये उपन्यास-लेखक अपने साहित्यिक स्तर की रक्षा कर सकेंगे।

छोटी कहानी जब एक स्वतन्त्र कला-रूप है तब उसके अभ्यासियों की भी एक विशिष्ट साधना होनी ही चाहिए। इस 'अणिमा' में महत्त्व का सन्निवेश मोपासाँ, चेखव अथवा पो-जैसे प्राणवान् लेखक और कलाकार ही कर सकते हैं। यह कला-रूप किसी दूसरे का स्थानापन्न नहीं है और न हो सकता है। इसलिए इसके प्रयोक्ता बड़े दायित्व से

सम्पन्न होने चाहिएँ। एक-मात्र छोटी कहानी का आश्रय लेकर विश्व-साहित्य में स्थान पाने वाले स्रष्टाओं की विशेषता क्या थी? जीवन के निगूढ़ मर्मों की सूझ और पहचान, और साथ ही शिल्प की ऐसी अप्रतिम योजना जिसमें संकेतों का बाहुल्य हो—पुनरुक्तियों से नितान्त अछूती। छोटी कहानी के सम्बन्ध में यह कहना सुसंगत है कि या तो वह सारवान है अतः ग्राह्य है; अथवा निस्सार है और भूल जाने योग्य है। बृहत्तर कला-रूपों में सामान्य लेखक भी कुछ कह सकता है, कुछ समय ठहर सकता है; परन्तु छोटी कहानी में इसकी गुञ्जाइश नहीं। जो स्थिति कविता अथवा प्रगीत कविता के सम्बन्ध में ऊपर प्रदर्शित है, वही छोटी कहानी के सम्बन्ध में भी एक बड़े अंश में लागू होती है। परन्तु हिन्दी में छोटी कहानी फिर भी कुछ नई विशेषताओं से संयुक्त है। लेखकों ने प्रेमचन्द से लेकर कई दशकों तक छोटी कहानी की विभिन्न रूप-योजनाओं से लाभ उठाया है, उन्हें समृद्ध भी किया है। कुछ नए लेखक प्राचीन कथा-किंवदन्तियों और पौराणिक अनुश्रुतिओं का उपयोग भी करने लगे हैं, जिससे हिन्दी-कहानी में सम्पन्नता आई है। परन्तु यह कहना होगा कि अब भी जीवन-मर्म और मौलिक जीवन-तथ्य की वह पकड़ और वह विन्यास हिन्दी-कहानी में नहीं आया है, जो ऊपर उल्लेख किये गए पश्चिमी कलाकारों में उपलब्ध है। यहाँ भी हम यह स्पष्ट कहना चाहते हैं कि हिन्दी में उस श्रेणी के कहानीकारों का आविर्भाव अनुकरण से आने वाला नहीं है। यहीं की मिट्टी में यहीं का प्रतिभा-जल मिश्रित होकर नई मूर्तियों की सृष्टि करेगा। दूसरी बात यह भी है कि राष्ट्रीय और मानवीय जीवन के स्थायी सूत्रों का प्रत्यय पाने पर ही श्रेष्ठ कहानी लिखी जा सकेगी, किसी आनुषंगिक वस्तु या विषय का आधार लेकर नहीं।

ऊपर के धारावाहिक वक्तव्य में हमने यथासम्भव साहित्यिकों के नामों का उल्लेख नहीं किया है, उनसे बचने की चेष्टा की है। इसका कारण यह है कि साहित्य की प्रगति में प्रवृत्तियाँ इतनी स्पष्ट हैं और नामों की संख्या इतनी कम है कि हिन्दी पाठक इस वक्तव्य को पढ़ते ही नामों की उद्भावना अपने-आप कर लेंगे। फिर, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यहाँ हम एक समाहित प्रगति-चित्र दे रहे हैं। विवरण में जाने का कार्य आगामी अंकों के लिए छोड़ दिया गया है। इस वक्तव्य में साहित्य के विविध रूपों का जो अनुक्रम हमने अपनाया है, वह पत्रिका के सम्पादक की अपनी भाव-धारा का परिणाम है। समीक्षा की चर्चा स्वभावतः सबसे पहले की गई है, क्योंकि पत्रिका स्वयं समीक्षा की है और मानदण्डों की विवेचना आरम्भ में की ही जाती है। कविता साहित्य का सबसे मार्मिक अंग है, अतएव उस पर सबसे पहले दृष्टि जाती है। खेद यह है कि कविता ही इस समय सबसे गहरी खाई में है। दूसरे साहित्य-रूप समतल पर हैं और उनमें से कुछ तो नई ऊँचाइयों का स्पर्श करने लगे हैं। यह हो नहीं सकता कि साहित्य के विविध रूप निकट-भविष्य में समन्वित और सम-स्तर न हो जायँ। जिस युग की प्रगति उपन्यास की भूमिका पर 'परती : परिकथा'-जैसी कृतियों की आयोजना कर सकती है, उस युग की काव्य-भूमि 'परती' पड़ी रहे, यह कैसे सम्भव है! इसी आशा से हमने काव्य से आरम्भ करके उपन्यास तक की अधिकाधिक सारवान प्रगति का उल्लेख किया है। यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं कि हमारी आशा निष्प्रयोजन होगी।

# नाट्य-शास्त्र की भारतीय परम्परा

### *१. नाट्यवेद और नाट्य-शास्त्र*

भारतीय 'नाट्य-शास्त्र' के आरम्भ में (१-१-४२) एक कथा दी गई है। उसमें बताया गया है कि कभी अनध्याय के समय जब भरतमुनि शान्त भाव से बैठे हुए थे, आत्रेय प्रभृति मुनियों ने उनसे जाकर प्रश्न किया कि भगवन् आपने जो वेदसम्मित 'नाट्यवेद' ग्रथित किया है, वह कैसे उत्पन्न हुआ और किसके लिए बनाया गया; उसके अंग, प्रमाण और प्रयोग किस प्रकार होते हैं, यह बताने की कृपा करें। भरतमुनि ने बताया कि वैवस्वत मनु के समय त्रेता युग प्राप्त हुआ और काम तथा लोभवश लोग ग्राम्य-धर्म की ओर प्रवृत्त हो गए तथा ईर्ष्या और क्रोध से मूढ़ होकर वे अनेक प्रकार के सुख-दुःखों के शिकार होने लगे। लोकपालों द्वारा प्रतिष्ठित जम्बूद्वीप जब देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और नागों से समाक्रान्त हो गया, तब इन्द्र प्रभृति देवताओं ने ब्रह्मा से जाकर कहा कि "**हे पितामह, हम ऐसा कोई 'क्रीडनीयक' या खेल चाहते हैं जो दृश्य भी हो और श्रव्य भी हो; जो वेद-व्यवहार है वह शूद्र जाति को सिखाया नहीं जा सकता अतएव आप सब वर्णों के योग्य किसी पाँचवे वेद की सृष्टि कीजिए !**" ब्रह्मा ने 'एवमस्तु' कहकर सब देवों को विदा किया। और चारों वेदों को समाधिस्थ होकर स्मरण किया और संकल्प किया कि मैं धर्म, अर्थ और यश का साधन, उपदेशयुक्त, शास्त्र-ज्ञान-समन्वित, भावी जनता को समस्त कर्मों का अनुदर्शन कराने वाला, समस्त शास्त्रार्थों से युक्त, सब शिल्पों का प्रदर्शक, इतिहासयुक्त 'नाट्य' नामक वेद बनाऊँगा। उन्होंने 'ऋग्वेद' से पाठ्य-अंश लिया, 'सामवेद' से गीत अंश, 'यजुर्वेद' से अभिनय और 'अथर्व वेद' से रसों का संग्रह किया। 'नाट्य वेद' का निर्माण करके ब्रह्मा ने प्रचार करने के उद्देश्य से उसे देवताओं को दिया। परन्तु इन्द्र ने उनसे निवेदन किया कि देवता लोग इस नाट्य-कर्म के ग्रहण, धारण, ज्ञान और प्रयोग में असमर्थ हैं। इस काम को वेदों के रहस्य जानने वाले संशित-व्रत मुनियों को देना चाहिए। ब्रह्मा ने इसके बाद भरत मुनि को बुलाकर आज्ञा दी कि तुम अपने सौ पुत्रों के साथ इस 'नाट्यवेद' के प्रयोक्ता बनो ! पितामह की आज्ञा पाकर भरत मुनि ने अपने सौ पुत्रों को इस 'नाट्यवेद' का उपदेश दिया। इस प्रकार यह 'नाट्यवेद'

पृथ्वी-तल पर आया।

यह कहानी कई दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। प्रथम तो यह कि वेदों से भिन्न पाँचवाँ वेद होते हुए भी 'नाट्यवेद' के मुख्य अंश चारों वेदों से ही लिये गए हैं। दूसरा यह कि यद्यपि इसके मूल तत्त्व वेदों से गृहीत हैं, तथापि यह स्वतन्त्र वेद है और अपनी प्रामाणिकता के लिए किसी दूसरे का मुखापेक्षी नहीं। तीसरा यह कि यह वेद अन्य वेदों की तरह केवल ऊँची जातियों के लिए नहीं है बल्कि सार्ववर्णिक है, और चौथी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वैदिक आचार और क्रिया-परम्परा के प्रवर्त्तित होने के बहुत बाद त्रेता युग में इस शास्त्र का निर्माण हुआ। उस समय जम्बूद्वीप देवता, दानव, यक्ष, राक्षस और नागों से समाक्रान्त हो चुका था; यानी भारतवर्ष में बहुत-सी नई जातियों का प्रादुर्भाव हो चुका था।

भारतीय परम्परा यह है कि किसी भी नये शास्त्र के प्रवर्त्तन के समय उसका मूल वेदों में अवश्य खोजा जाता है। वेद ज्ञान-स्वरूप हैं, उनमें त्रिकाल का ज्ञान बीज-रूप में सुरक्षित है। भारतीय मनीषी अपने किसी ज्ञान को अपनी स्वतन्त्र उद्भावना नहीं मानते। 'नाट्यवेद' की उत्पत्ति की कथा में भी यह प्रवृत्ति दिखाई देती है परन्तु इस शास्त्र को वेद की मर्यादा देने का एक और अर्थ भी है। इसमें कुछ ऐसी बातें हैं जो प्रसिद्ध चार वेदों में नहीं हैं और उनके लिए यह 'नाट्यवेद' ही 'स्वतःप्रमाण' वाक्य है। किसी शास्त्र को वेद कहने का मतलब यह है कि वह स्वयं अपना प्रमाण है, उसके लिए किसी अन्य आप्तवाक्य की अपेक्षा नहीं। मनु ने साक्षात् धर्म के कारण को चतुर्विध बताया है—श्रुति, स्मृति, सदाचार और अपने-आपको प्रिय लगने वाली बात। परन्तु ये चारों समान रूप से स्वतन्त्र नहीं। स्मृति उतनी ही ग्रहणीय है जितनी कि श्रुति से समर्थित है; सदाचार उतना ही ग्रहणीय है जितना कि श्रुति और स्मृति से समर्थित है और अपनी प्रिय बात उतनी ही दूर तक स्वीकार्य है जितनी दूर तक वह श्रुति, स्मृति और सदाचार के अविरुद्ध हो। धर्म के अन्तिम तीन कारण श्रुति से मर्यादित हैं। मनु जिसे श्रुति समझते हैं उसमें ऐसी बहुत-सी बातों का समावेश नहीं होगा जो नाट्यवेद में गृहीत हैं। इसलिए 'नाट्य-शास्त्र' के आरम्भ में इसे श्रुति की मर्यादा दी गई है।

जब से नये ढंग की शोध-प्रथा प्रचलित हुई है तब से 'नाट्य वेद' के विषय में आधुनिक ढंग के पण्डितों में अनेक प्रकार की जल्पना-कल्पना चल पड़ी है। यह भी विचार का विषय बना हुआ है कि 'नाट्य-शास्त्र' को पाँचवाँ वेद क्यों कहा गया। वे कौन-सी ऐसी बातें थीं जो इस शास्त्र के प्रवर्त्तित होने के पहले वैदिक आर्यों में प्रचलित थीं और कौन-सी ऐसी बातें हैं जो नई हैं। फिर जो नई हैं उनकी प्रेरणा कहाँ से मिली? क्या यवन आदि विदेशी जातियों से भी कुछ लिया गया, या यहाँ की आर्येतर जातियों में प्रचलित प्रथाओं से उन्हें ग्रहण किया गया। इन जल्पना-कल्पनाओं का साहित्य काफी बड़ा और जटिल है। सबकी पुनरावृत्ति करना न तो यहाँ आवश्यक ही है और न उपयोगी ही। 'नाट्य-शास्त्र' की कथा से इतना तो स्पष्ट ही है कि नाटकों में जो पाठ्य-अंश होता है उसका मूल रूप 'ऋग्वेद' में मिल जाता है, जो गेय अंश है वह भी 'सामवेद' में प्राप्त हो जाता है और जो रस है उसका मूल रूप 'अथर्व' वेद में प्राप्त हो जाता है। कम-से-कम 'नाट्य-शास्त्र' के रचयिता को इसमें कोई सन्देह नहीं था!

आधुनिक पण्डितों को भी इस विषय में कोई सन्देह नहीं है कि 'ऋग्वेद' में अनेक स्थल हैं जो निर्विवाद रूप से संवाद या 'डायलॉग' हैं। कम-से-कम पन्द्रह ऐसे स्थल तो खोजे ही जा सकते हैं जिनमें स्पष्ट रूप से संवाद या संवाद का आभास मिल जाता है। 'ऋग्वेद' १०।१० में यम और यमी का प्रसिद्ध संवाद है तथा १०।६५ में पुरूरवा और उर्वशी की बातचीत है। ८ वें मण्डल के १००वें सूक्त में नेम भार्गव ने इन्द्र से प्रार्थना की और इन्द्र ने उसका उत्तर दिया। कहीं-कहीं तीन व्यक्तियों के भी संवाद मिलते हैं। प्रथम मण्डल के १७६वें सूक्त में इन्द्र, अदिति और वामदेव का संवाद है। १० वें मण्डल के १०८वें सूक्त में इन्द्र-दूती सरमा अपने सारमेय पुत्रों के लिए पणियों के पास जाती है और उनसे जमकर बात करती है। कुछ ऐतिहासिक-जैसे लगने वाले संवाद भी हैं। विश्वामित्र की नदियों से बातचीत तीसरे मण्डल के ३३वें सूक्त में पाई जाती है और वशिष्ठ की अपने पुत्रों के साथ बातचीत सातवें मण्डल के ३३वें सूक्त में सुरक्षित है। ऐसे ही और भी बहुत-से सूक्त हैं जिनमें देवताओं की बातचीत हैं। यद्यपि कभी-कभी आधुनिक पण्डित इन सूक्तों के अर्थ के सम्बन्ध में एक-मत नहीं हो पाते। एक पण्डित जिसे संवाद समझता है, दूसरा पण्डित उसे संवाद मानने को प्रस्तुत नहीं। इस प्रकार का झगड़ा कोई नया नहीं है। दशम मण्डल के ९५वें सूक्त को, जिसमें पुरूरवा और उर्वशी का संवाद है, यास्क संवाद ही मानते थे; परन्तु शौनक उसे कहानी-मात्र मानते थे।

वेदों में ये संवाद क्यों आए ? सन् १८६९ में सुप्रसिद्ध पण्डित मैक्समूलर ने प्रथम मण्डल के १६५वें सूक्त के सम्बन्ध में, जिसमें इन्द्र और मरुतों की बातचीत है, अनुमान किया था कि यज्ञ में यह संवाद अभिनीत किया जाता था। सम्भवतः दो दल होते थे, एक इन्द्र का प्रतिनिधि होता था, दूसरा मरुतों का। १८९० ई० में प्रो० लेवी ने भी इस बात का समर्थन किया था। प्रो० लेवी ने यह भी बताया था कि वैदिक काल में गाने की प्रथा काफी प्रौढ़ हो चुकी थी। इतना ही नहीं 'ऋग्वेद' १।९२।४ में ऐसी स्त्रियों का उल्लेख है जो उत्तम वस्त्र पहनकर नाचती थीं और प्रेमियों को आकृष्ट करती थीं। 'अथर्ववेद' में (७।१।४१) पुरुषों के भी नाचने और गाने का उल्लेख है। श्री ए० बी० कीथ ने कार्य-कारण-सम्बन्ध को देखते हुए इस बात में कोई कठिन आपत्ति उपस्थित होने की सम्भावना नहीं देखी कि ऋग्वेद-काल में लोग ऐसे नाटकीय दृश्यों को जानते थे जो धार्मिक हुआ करते थे और जिनमें ऋत्विक् लोग स्वर्गीय घटनाओं का पृथ्वी पर अनुकरण करने के लिए देवताओं और मुनियों की भूमिका ग्रहण करते थे।

नाटक में जो अंश पाठ्य होता है वह पात्रों का संवाद ही है। 'नाट्य-शास्त्र' के रचयिता ने जब यह संकेत किया था कि ब्रह्मा ने 'नाट्य वेद' की रचना के समय 'पाठ्य-अंश' 'ऋग्वेद' से लिया था तो उनका तात्पर्य यही रहा होगा कि ऋग्वेद में पाए जाने वाले काव्यात्मक संवाद वस्तुतः नाटक के अंश ही हैं। ऐसा निष्कर्ष उन दिनों यज्ञादियों में प्रचलित नाटकीय दृश्यों को देखकर ही निकाला जा सकता है। आधुनिक काल के कई विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि ऋग्वेदकालीन यज्ञों में वस्तुतः कुछ अभिनय हुआ करता था। सारे संसार की प्राचीन जातियों में नाच-गान और अभिनय का अस्तित्व पाया जाता है। प्रो० फान श्रडेर ने बताया था कि 'ऋग्वेद' में आए हुए संवाद प्राचीनतर भारो-

पीय काल के आर्यों में प्रचलित नाच, गान और अभिनय के उत्तरकालीन रूप होंगे। सारे संसार में सृष्टि-प्रक्रिया के रहस्य को प्रतीक रूप में अभिनीत करने के लिए अनेक प्रकार के मैथुनिक अभिनय प्रचलित थे। प्राचीन ग्रीक लोगों में भी एक प्रकार का शिश्न-नृत्य प्रचलित था, परन्तु इस प्रकार के अनुमान के लिए न तो मूल संहिताओं में ही कोई निश्चित सबूत पाया जाता है और न हजारों वर्षों की भारतीय परम्परा में ही कोई संकेत मिलता है। ओल्ड-विक पिशेल और ओल्डेलवर्ग-जैसे विद्वानों ने यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि इन संवाद-मूलक पद्यों के बीच-बीच गद्य का भी समावेश हुआ करता था, जिसका कोई निश्चित रूप नहीं था। पद्य केवल उन स्थलों पर व्यवहृत होते थे जहाँ वक्ता का भावावेग तीव्र होता था। इन तीव्र भावावेग वाले स्थलों को ही इन संवाद-मूलक सूक्तों में संग्रहीत कर लिया गया है। 'शकुन्तला' नाटक से गद्य वाले सभी अंश हटा दिए जायँ और केवल पद्य अंश ही सुरक्षित रखे जायँ तो उसकी वही स्थिति होगी जो बहुत-कुछ इन संवादमूलक सूक्तों की है। प्रो० पिशेल ने इस अनुमान को और भी आगे बढ़ाया है। उनका अनुमान है कि संस्कृत-नाटकों में जो गद्य और पद्य का विचित्र सम्मिश्रण मिलता है वह उसी पुरानी यज्ञ-क्रिया से सम्बद्ध नाटकीय तत्त्वों का परवर्ती रूप है। संस्कृत-नाटक में पात्र गद्य बोलते-बोलते जब भावावेश की स्थिति में आता है तब पद्य बोलने लगता है। परन्तु इस विषय में भी विशाल भारतीय परम्परा एकदम मौन है। जो हो, इतना तो स्पष्ट ही है कि 'नाट्य-शास्त्र' के रचयिता के मन में 'ऋग्वेद' में नाटकों में पाए जाने वाले पाठ्य-तत्त्व के अस्तित्व के बारे में कोई सन्देह नहीं था। या तो, परम्परया यह प्रचलित था कि 'ऋग्वेद' के संवाद-मूलक पाठ्य-अंश किसी प्रकार के नाटकीय प्रदर्शन के अंश हैं या उन्होंने स्वयं ही किसी धार्मिक उत्सव के अवसर पर इन नाट्य अंशों को नाटकीय रूप में अभिनीत होते देखा था। भरत मुनि ने 'नाट्य-शास्त्र' के प्रथम अध्याय में 'रंग-दैवत पूजन' विधि को 'यज्ञ-सम्मत' कहा है····'**यज्ञेन सम्मतं ह्येतद् रंग दैवत पूजनम्**'—( १-१२३ )। यदि 'नाट्य-शास्त्र' के इस उल्लेख को परम्परा का इंगित मान लिया जाय तो प्रो० पिशेल का अनुमान सत्य सिद्ध हो सकता है। इतना तो निश्चित है कि 'नाट्य-शास्त्र' का यह कहना (१-१७) कि नाटक के पाठ्य अंश 'ऋग्वेद' से लिये गए हैं, साधार और युक्तियुक्त है। भारतीय नाटकों के विकास के लिए हमें इस तत्त्व के लिए बहुत भटकने की जरूरत नहीं है। वह निश्चित रूप से संहिताओं में प्राप्त है।

'सामवेद' से गीत अंश लिया गया, यह कहना ठीक ही है। ऋक् या पद्य को साम की योनि कहा गया है। योनि अर्थात् उत्पत्ति-स्थल आर्चिक और उत्तरार्चिक, ये सामवेद के दो भाग हैं। आर्चिक अर्थात् ऋचाओं का संग्रह। इसमें ५८५ ऋचाएँ हैं। विंटरनित्स ने कहा है कि इसकी तुलना एक ऐसी गान-पुस्तक से की जा सकती है जिसमें गान के केवल एक-एक ही पद्य लय या सुर की याद दिलाने के लिए संग्रह किये गए हों। दूसरी ओर उत्तरार्चिक ऐसी पुस्तक से तुलनीय हो सकता है जिसमें पूरे गान संगृहीत होते हैं और यह मान लिया गया होता है कि सुर या लय पहले से ही जाने हुए हैं। कहने का अर्थ है कि सामवेद एक अत्यधिक समृद्ध संगीत-परम्परा का परिचायक ग्रन्थ है। इसलिए शास्त्रकार का यह कहना कि 'नाट्यवेद' में गीत सामवेद से लिये गए हैं, युक्तियुक्त और साधार है।

शास्त्र का दावा है कि 'नाट्य-वेद' में जो अभिनय है वह 'यजुर्वेद' से लिया गया है। 'यजुर्वेद' अध्वयु वेद कहलाता है। पतञ्जलि ने 'महाभाष्य' में बताया है कि उसकी १०१ शाखाएँ थीं। यज्ञ में अध्वयु लोग 'यजुर्वेद' के मन्त्रों का पाठ करते हैं। इस वेद की पाँच शाखाएँ या पाँच विभिन्न पाठ प्राप्त हैं।

१. 'काठक' अर्थात् कठ लोगों की संहिता (२) 'कपिष्ठल-कठ-संहिता' कुछ थोड़ी-सी भिन्न और अपूर्ण हस्तलिपियों में ही प्राप्त हुई है, (३) 'मैत्रायणी संहिता' अर्थात् मैत्रायणीय परम्परा की संहिता (४) 'तैत्तिरीय संहिता' या आपस्तम्ब संहिता ( इन चारों में बहुत साम्य है। इन्हें कृष्ण यजुर्वेद की शाखा कहते हैं।) तथा (५) 'वाजसनेयी संहिता' शुक्ल यजुर्वेद की संहिता कहलाती है। इसका नाम 'याज्ञवल्क्य वाजसनेयी' के नाम पर पड़ा। यही इस शाखा के आदि आचार्य थे। इसकी भी दो शाखाएँ प्राप्त हैं, कण्व और माध्यन्दिनीय।

'यजुर्वेद भाष्य' की भूमिका में महीधर ने लिखा है कि व्यास के शिष्य वैशम्पायन ने अपने याज्ञवल्क्य इत्यादि शिष्यों को चारों वेद पढ़ाए। एक दिन वैशम्पायन क्रुद्ध होकर याज्ञवल्क्य से बोले कि तूने मुझसे जो कुछ पढ़ा है उसे छोड़ दे! गुस्से में याज्ञवल्क्य ने भी जो पढ़ा था, सब उगल दिया, जिसे गुरु की आज्ञा से वैशम्पायन के शिष्यों ने तीतर बनकर खा लिया। यही उद्वान्त ज्ञान 'तैत्तिरीय संहिता' है। याज्ञवल्क्य ने तपस्या करके सूर्य से 'शुक्ल यजुर्वेद' प्राप्त किया। सूर्य से प्राप्त होने के कारण ही इसका नाम 'शुक्ल यजुर्वेद' पड़ा और इसके विरोध में 'तैत्तिरीय शाखा' का नाम 'कृष्ण यजुर्वेद' पड़ा। आधुनिक पण्डितों ने दोनों वेदों की विषय-वस्तु पर विचार करके बताया है कि शुक्ल का अर्थ है······· सुसम्पादित, स्पष्ट और साफ जब कि कृष्ण का अर्थ है असम्पादित, अस्पष्ट और घिचिर-पिचिर। 'कृष्ण यजुर्वेद' में ऐसे बहुत-से अंश हैं जो ब्राह्मण-ग्रन्थों के अंश-से जान पड़ते हैं। शुक्ल में यह बात नहीं है। वह विशुद्ध मन्त्रों की संहिता है। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि रावण-कृत वेद-भाष्य इसमें मिल गया है, इसलिए इसे कृष्ण या काला कहा गया है। 'शुक्ल यजुर्वेद' की 'माध्यन्दिनीय शाखा' ही सम्भवतः पुराना और प्रामाणिक यजुर्वेद है। इसकी उक्त दोनों शाखाओं में अन्तर बहुत कम है। माध्यन्दिनीय शाखा पुरानी मानी जाती है, उसीका प्रचार भी अधिक है। आधुनिक पण्डितों का विश्वास है कि इसके ४० अध्यायों में अन्तिम १५ (या २२) परवर्ती हैं, प्रथम भाग पुराना।

स्पष्ट है कि 'यजुर्वेद' में कुछ अंश ऐसे अवश्य मिल जाते हैं जो यज्ञ-क्रिया की विधियों को बताते हैं जिनमें थोड़े-बहुत ऐसे कार्य होते हैं जो अभिनय की कोटि में आ सकते हैं। आधुनिक ढंग के विद्वानों ने यज्ञ के सोम-विक्रय प्रकरण को और महाव्रत के विविध अनुष्ठानों को एक प्रकार का नाटकीय अभिनय ही माना है। इसी प्रकार अन्य याज्ञिक अनुष्ठानों में भी कुछ ऐसे अनुष्ठान मिल जाते हैं जो नाटकीय अभिनय की कोटि में आ जाते हैं। यह सत्य है कि इन अनुष्ठानों को नाटक नहीं कहा जा सकता। विशुद्ध नाटक वह है जहाँ अभिनेता जान-बूझकर किसी दूसरे व्यक्ति की भूमिका में उतरता है, स्वयं आनन्दित होता है और दूसरों को आनन्द देता है। 'यजुर्वेद' में इस श्रेणी का नाटक खोजना व्यर्थ का परिश्रम-मात्र है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि याज्ञिक क्रिया के अनुष्ठान में ऐसी कुछ बातें आ मिली हैं जो उन दिनों के साधारण जन-समाज में प्रचलित नाच-गान और तमाशों

से ली गई होंगी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे लोक-नृत्य और लोक-नाट्य उन दिनों प्रचलित अवश्य थे। 'कौशीतकी ब्राह्मण' ( २४।५ ) में नृत्य-गीत आदि को कलाओं में गिनाया गया है। 'पारस्कर गृह्यसूत्र' में (२-७-३) द्विजातियों को यह सब करने की मनाही है। इसलिए यह सरलता से अनुमान किया जा सकता है उन दिनों लोक में बहुत-से नृत्य, गीत, नाट्य प्रचलित थे। लोग उनकी कद्र भी करते थे, परन्तु अत्यन्त नैतिकतावादी ब्राह्मण उनसे बचने का भी प्रयत्न करते थे। वेदों का वातावरण पवित्रता का वातावरण है, और ब्राह्मण-विश्वास के अनुसार ऐसा कोई काम द्विजों को नहीं करना चाहिए जिससे चरित्रगत पतन की सम्भावना हो। इसलिए यद्यपि नृत्य, नाट्य आदि की मनोरञ्जकता उन्होंने अस्वीकार नहीं की, किन्तु उन्हें भले आदमियों के योग्य भी नहीं माना। जो हो, शास्त्र में यह बताया गया है कि नाटकों में जो अभिनय-तत्त्व है वह 'यजुर्वेद' से लिया गया है। इस वक्तव्य को समझने के लिए जिस प्रकार यह आवश्यक है कि हम समझें कि यजुर्वेद क्या है, उसी प्रकार हम यह भी समझें कि नाट्य-शास्त्र ने 'अभिनय' किस वस्तु को कहा है।

'नाट्य-शास्त्र' में अभिनय शब्द बहुत व्यापक अर्थों में व्यवहृत हुआ है। इसमें नाटक के प्रायः सभी तत्त्व आ जाते हैं। वेश-विन्यास भी इससे अलग वस्तु नहीं और रंगमंच की सजावट भी उसके अन्तर्गत आ जाती है। वस्तुतः पाठ्य-गान और इसके अतिरिक्त जो-कुछ भी नाटक में किया जा सकता है वह सब अभिनय के अन्तर्गत आता है और पाठ्य-गान और रस के भी सभी आश्रय और उपादान अभिनय के अन्तर्गत आ जाते हैं, इसलिए नाट्य-शास्त्रीय परम्परा में जब अभिनय शब्द का व्यवहार होता है तो वस्तुतः कुछ भी छूटता नहीं।

कुछ लोगों ने 'नाट्य-शास्त्र' के 'अभिनय' शब्द का अर्थ 'इमिटेशन' (अनुकरण) और 'जेश्चर' ( भाव-भंगी ) किया है, जो ठीक नहीं है। यह समझना भूल है कि अभिनय में केवल अंगों की विशेष प्रकार की भंगिमाएँ ही प्रधान स्थान अधिकार करती हैं। अभिनय के चारों अंगों अर्थात् आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक—पर समान भाव से जोर दिया गया है। आंगिक अर्थात् देह-सम्बन्धी अभिनय उन दिनों चरम उत्कर्ष पर था। इसमें देह, मुख और चेष्टा के अभिनय शामिल थे। सिर, हाथ, कटि, वक्ष, पार्श्व और पैर इन अंगों के सैकड़ों प्रकार के अभिनय 'नाट्य-शास्त्र' और 'अभिनय दर्पण' आदि ग्रन्थों में गिनाये गए हैं। 'नाट्य-शास्त्र' में बताया गया है कि किस अंग या उपांग के अभिनय का क्या विनियोग है अर्थात् वह किस अवसर पर अभिनीत हो सकता है। फिर नाना प्रकार की घूमकर नाचने-गाने वाली भंगिमाओं का भी विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है। फिर वाचिक अर्थात् वचन-सम्बन्धी अभिनय को भी उपेक्षणीय नहीं समझा जाता था। 'नाट्य-शास्त्र' में कहा गया है ( १५-२ ) कि वचन का अभिनय बड़ी सावधानी से करना चाहिए। क्योंकि यह नाट्य का शरीर है, शरीर और पोशाक के अभिनय वाक्यार्थ को ही व्यञ्जित करते हैं। उपयुक्त स्थलों पर उपयुक्त यति और काकु देकर बोलना नाम-आख्यात-निपात-उपसर्ग-समास-तद्धित-विभक्ति-सन्धि आदि को ठीक-ठीक प्रकट करना, छन्दों का उचित ढंग से प्रयोग करना, शब्दों के प्रत्येक स्वर और व्यञ्जन का उपयुक्त रीति से उच्चारण करना, इत्यादि बातें अभिनय का प्रधान अंग मानी जाती थीं। परन्तु यही सब-कुछ नहीं था।

केवल शारीरिक और वाचिक अभिनय भी अपूर्ण माने जाते थे। आहार्य और वस्त्रालङ्कारों की उपयुक्त रचना भी अभिनय का अंग समझी जाती थी। यह चार प्रकार की होती थी—पुस्त, अलङ्कार, अङ्ग-रचना और संगीत। नाटक के स्टेज को आज के समान 'रियलिस्टिक' बनाने का ऐसा पागलपन तो नहीं था, परन्तु पहाड़, रथ, विमान आदि को यथार्थ का कुछ रूप देने के लिए तीन प्रकार के पुस्त व्यवहृत होते थे। वे या तो बाँस या सरकण्डे से बने होते थे, जिन पर कपड़ा या चमड़ा चढ़ा दिया जाता था, या फिर यन्त्र आदि की सहायता से फर्जी बना लिये जाते थे, या फिर अभिनेता ऐसी 'चेष्टा' करता था जिसमें उन वस्तुओं का बोध प्रेक्षक को हो जाय ( २३-५-७ )। इन्हें क्रमशः सन्धिम, व्यञ्जिम और चेष्टिम पुस्त कहते थे। अलङ्कार में विविध प्रकार के माल्य, आभरण, वस्त्र आदि की गणना होती थी। अङ्ग-रचना में पुरुष और स्त्रियों के बहुविध वेष-विन्यास शामिल थे। प्राणियों के प्रवेश को संजीव कहते थे ( २३-१५२ ) परन्तु इन तीनों प्रकार के अभिनयों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण अभिनय सात्विक था। भिन्न-भिन्न रसों और भावों के अभिनय में अभिनेता या अभिनेत्री की वास्तविक परीक्षा होती थी।

'यजुर्वेद संहिता' में बताये हुए याज्ञिक विधानों में निःसन्देह अभिनय के ऊपर बताये गए अनेक तत्त्व मिल जायँगे। इसलिए शास्त्रकार ने अभिनय को 'यजुर्वेद' से गृहीत बताया है। रही अथर्ववेद से रसों के ग्रहण करने की बात। इसके बारे में हम आगे विचार करेंगे। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि 'अथर्व वेद' से रसों के ग्रहण करने का अनुमान भी उचित और संगत है।

'नाट्य वेद' के दो अंग हैं—विधि और शास्त्र। भरत मुनि ने प्रथम अध्याय के १२५वें श्लोक में स्पष्ट कहा है कि जो व्यक्ति 'यथाविधि' और 'यथाशास्त्र' पूजा करेगा वह शुभ फल प्राप्त करेगा और अन्त में स्वर्ग-लोक में जायगा—

**यथाविधि यथाशास्त्रं यस्तु पूजां करिष्यति।**
**स लप्स्यते शुभानर्थान् स्वर्गलोकं गमिष्यति॥** (१-१२५)

दूसरे से पाँचवें अध्याय तक विधि पर बड़ा जोर है। विधि-दृष्ट-कर्म (२-६६) से सभी कार्यों को करने को कहा गया है। काष्ठ-विधि ( २-७६ ), भित्ति कर्म विधि (२-८३), द्वार-विधि (३-२२), मन्त्र विधान (३-४६), आसारित विधि (४-२८२), वृत्ताभिनय विधि (४-२६२), नृत्याभिनय वादित सम्बन्धी वस्तुक विधि (४-२६४), ताण्डव प्रयोग विधि (४-३२१), गीतक-विधि (५-६०), रंगसिद्धि के पश्चात् काव्य-निरूपण विधि ( ५-१४० ), पूर्व रंग विधि (५-१७२ और १७६) इत्यादि अनेक विधियों का उल्लेख है। दर्जनों स्थानों पर विधि लिङ्ग की क्रिया का प्रयोग है। मीमांसकों के अनुसार श्रुति का तात्पर्य केवल विधि से है। जहाँ विधि-लिङ्ग का प्रयोग होता है वही श्रुति होती है। नाट्य-शास्त्र इन विधियों पर बहुत जोर देता है और स्थान-स्थान पर स्पष्ट रूप से निर्देश देता है यह विधि अवश्य करणीय है। जो इस विधि को छोड़कर अपनी इच्छा से इसका प्रयोग करता है वह तिर्यग् योनि को प्राप्त होता है और विनाश (अपचय) का शिकार होता है—

**यश्चेमं विधिमुत्सृज्य यथेष्टं सम्प्रयोजयेत्।**
**प्राप्नोत्यपचयं घोरं तिर्यग्योनिं च गच्छति॥** (५-१७३)

और

**यस्त्वेवं विधिमुत्सृज्य यथेष्टं सम्प्रयोजयेत् ।**
**प्राप्नोत्यपचयं शीघ्रं तिर्यग्योनिं च गच्छति ।।** (३-९८)

पाँचवें अध्याय के बाद विधि शब्द कम आता है। अन्तिम अध्यायों में वह फिर बहुलता से आने लगता है। स्पष्ट ही 'नाट्य-वेद' का श्रुतित्व इन विधियों में है। कई स्थानों पर **'अनेनैव विधानेन'**-जैसे वाक्यांशों का प्रयोग आता है, जिसमें शास्त्रकार 'एव' पद देकर अन्य विधियों का तिरस्कार करते हैं।

विधि के बाद जो बचता है, वह शास्त्र है। साधारणतः इसके लिए 'नाट्यम्' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसमें युक्ति-तर्क और प्रयोग-पाठ्य का निर्देश है। छठे और सातवें अध्याय में रस और भावों को समझाया गया है। इन अध्यायों में विधि शब्द का प्रयोग बहुत कम हुआ है। यह दावा तो नहीं किया जा सकता कि विधि और शास्त्र बिलकुल अलग करके दिखाए जा सकते हैं, पर इतना निश्चित जान पड़ता है कि विधि साधारणतः अभिनेताओं को दृष्टि में रखकर निर्दिष्ट हुए हैं और शास्त्र अभिनेता, सामाजिक और कवि या नाटककार सबको ध्यान में रखकर रचित हुआ है।

## २. *नाट्यवेद में विस्तार*

ब्रह्मा ने जब नाट्यवेद की सृष्टि की तो उसमें स्वयं ही इतिहास को जोड़ दिया और इन्द्र को आज्ञा दी कि इसका प्रयोग देवताओं से कराओ, लेकिन इन्द्र ने कहा कि इसके ग्रहण, धारण, ज्ञान और प्रयोग की शक्ति देवताओं में नहीं है। केवल मुनि लोग ही ऐसा कर सकते हैं। इन्द्र के कथन का तात्पर्य यह था कि देवता भोग-योनि है, उस योनि में क्रिया-शक्ति नहीं होती जब कि मनुष्य में ग्रहण, धारण, ज्ञान और प्रयोग की शक्ति होती है। तात्पर्य यह है कि नाटक केवल अनुकरण-मात्र नहीं है, वह उससे अधिक है। उसमें मनुष्य की इच्छा, ज्ञान और कर्म-शक्ति की आवश्यकता होती है। ग्रहण की हुई वस्तु को धारण करना साधना से सम्भव होता है। देवता का शरीर और मन सिद्ध होता है, साधक नहीं। उसमें इच्छा-शक्ति का अभाव होता है, नाटक में संकल्प होता है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया से मनुष्य-शरीर त्रिपुटीकृत है। इसलिए इच्छा, ज्ञान और क्रिया में त्रिधा अभिव्यक्ति ग्रहण करने वाली महाशक्ति त्रिपुरा मनुष्य-पिण्ड में कुण्डलिनी-रूप में प्रकाशित होती है किन्तु देवता में उसका अभाव है। इसीलिए नाटक, जो मनुष्य की सर्जनेच्छा या सिसृक्षा का उत्तम रूप है, देवता-लोगों की शक्ति का विषय नहीं है। देवता सिद्धि दे सकता है, साधना नहीं कर सकता। नाटक साधना का विषय है। मनुष्य में जो सर्जनेच्छा या नया कुछ रचने की जो आकांक्षा है, वह उसका विषय है। इन्द्र की बात सुनकर ब्रह्मा ने इतिहासयुक्त 'नाट्यवेद' को भरत मुनि के जिम्मे किया जिन्होंने अपने सौ पुत्रों को उसका उपदेश दिया। इस प्रकार इतिहास 'नाट्य-वेद' में जोड़ा गया। पाठ्य, गीत, अभिनय और रस के साथ कथानक का योग हुआ। शास्त्र के अनुसार नाटक का प्रथम प्रयोग इन पाँच वस्तुओं को लेकर ही हुआ। भरत मुनि ने इसमें तीन वृत्तियों का योग किया था। ये तीन वृत्तियाँ हैं, भारती, सात्वती और आरभटी। भारती वृत्ति **"वाक्-प्रधाना, पुरुष-प्रयोज्या, स्त्रीवर्जिता, संस्कृत वाक्य युक्ता"** वृत्ति है (२२-५)।

इसे भरत-पुत्रों को प्रयोग करने में कठिनाई नहीं हुई; सात्वती **"हर्षोत्कटा, संहृत-शोकभावा, वाग्अंगाभिनयवती, सत्वाधिकारयुक्ता"** वृत्ति है (५२–३८, ३६)। इसे भी बिना कठिनाई के सम्हाल लिया गया; आरभटी कूद-फाँद, इन्द्र-जाल, आक्रमण आदि को प्रकट करने वाली वृत्ति है (२२-५७, ५८), भरत-पुत्रों ने इसका प्रयोग भी आसानी से कर लिया। परन्तु चौथी वृत्ति जो कैशिकी है वह उनके वश की नहीं थी। इसमें सुकुमार साज-सज्जा, स्त्री-सुलभ चेष्टाएँ, कोमल श्रृंगारोपचार (२२-४७) की आवश्यकता थी। भरत-पुत्र इसका प्रयोग नहीं कर सके। ब्रह्मा ने इस कमी को महसूस किया और भरत मुनि को आज्ञा दी कि कैशिकी वृत्ति को भी इसमें जोड़ो (१-४३)। भरत मुनि ने कहा कि यह वृत्ति तो पुरुषों के वश की नहीं है, इसे तो केवल स्त्रियाँ ही कर सकती हैं। ब्रह्मा ने तब अप्सराओं की सृष्टि की, इस प्रकार 'नाट्यवेद' में स्त्रियों का प्रवेश हुआ।

इन्द्र के ध्वजारोपण के अवसर पर प्रथम बार चारों वृत्तियों से संयुक्त नाटक खेला गया और प्रसन्न होकर देवताओं ने भरत मुनि को अनेक उपकरण दिए और रक्षा करने का आश्वासन भी दिया।

कथा से स्पष्ट है कि पहले नाटक में स्त्रियों का योग नहीं था। बाद में जब यह अनुभव किया गया कि नाटक की कुछ क्रियाएँ स्त्रियों के बिना असम्भव हैं तो नाटक में स्त्रियों के प्रवेश करने का विधान हुआ।

दैत्यों ने नाटक के समय उपद्रव शुरू किया। उनसे बचाव के लिए रंगपूजा की विधि का समावेश हुआ। इसकी बड़ी विस्तृत विधि 'नाट्य-शास्त्र' में बताई गई है। इस आडम्बर-पूर्ण विधान से नाटक में यज्ञ का गौरव आ गया। पहले नगाड़ा बजाकर नाटक आरम्भ होने की सूचना देने का विधान है। फिर गायक और वादक लोग यथा स्थान बैठ जाते थे; सम्मिलित गान आरम्भ होता था। मृदङ्ग, वीणा, वेणु आदि वाद्यों के साथ नर्तकी का नूपुर झनकार कर उठता था और इस प्रकार नाटक के उत्थापन की विधि सम्पन्न होती थी। आधुनिक पण्डितों में इसके बारे में मतभेद है कि ये पर्दे के पीछे की क्रिया है या बाहर अर्थात् रंगभूमि की। सतभेद का कारण सदा ग्रीक रंगमंच की बात सोच-सोचकर भारतीय रंगमंच को समझने की अवांछित चेष्टा है। शुरू में ही अवतरण या रंगावतरण का उल्लेख होने से स्पष्ट है कि यह क्रिया रंगभूमि में ही होती थी। फिर सूत्राधार का प्रवेश होता था, उसके एक ओर गड़ुए में पानी लिये भृङ्गारधर होता था और दूसरी ओर विघ्नों को जर्जर करने वाली पताका लिये हुए जर्जरधर होता था। इन दो परिपार्श्वकों के साथ सूत्रधार पाँच पग आगे बढ़ता था। परन्तु यह बढ़ना साधारण बात न थी, उसमें विशेष गौरवपूर्ण अभिनय हुआ करता था। फिर सूत्रधार भृङ्गार से जल लेकर आचमन, प्रोक्षण आदि करके पवित्र हो लेता था। फिर एक विशेष आडम्बरपूर्ण भंगिमा के साथ विघ्न को जर्जर करने वाले जर्जर नामक ध्वज को उत्तोलित करता था और इन्द्र तथा अन्य देवताओं की स्तुति करता था। वह दाहिने पैर के अभिनय से शिव को और वाम पैर के अभिनय से विष्णु को नमस्कार करता था। पहला पुरुष का और दूसरा स्त्री का पद माना जाता था। एक नपुंसक पद का भी विधान है, इसमें दाहिने पैर को नाभि तक उत्क्षिप्त कर लेने का निर्देश है। इस नपुंसक पद से वह ब्रह्मा को नमस्कार करता था। फिर यथाविधि वह चार प्रकार के पुष्पों से जर्जर

की पूजा करता था। वह वाद्य-यन्त्रों की भी पूजा करता था और तब जाकर नान्दी-पाठ होता था। सब देवताओं को वह नमस्कार करता था और उनसे कल्याण की प्रार्थना करता था। वह राजा की विजय-कामना करता था, दर्शकों में धर्मबुद्धि होने की शुभाशंसा करता था, कवि या नाटककार के यशोवर्धन की भी वह कामना करता था। प्रत्येक शुभ कामना के बाद पारिपार्श्वक लोग 'ऐसा ही हो' (एवमस्तु) कहकर प्रतिवचन देते थे और इस प्रकार नान्दी-पाठ का आडम्बरपूर्ण कार्य सम्पन्न होता था।

इस प्र ंग में हम 'नाट्य-शास्त्र' में से केवल मुख्य-मुख्य क्रियाओं का संग्रह कर रहे हैं। नान्दी-पाठ तक की क्रिया बहुत विस्तृत है। इस नान्दी-पाठ को 'नाट्य-शास्त्र' बहुत महत्त्व देता है। अस्तु; जब नान्दी-पाठ हो जाता था तो फिर शुष्कावकृष्टा विधि के बाद सूत्रधार एक ऐसा श्लोक-पाठ करता था जिसमें अवसर के अनुकूल बातें होती थीं, अर्थात् वह या तो जिस देवता की विशेष पूजा के अवसर पर नाटक खेला जा रहा हो उस देवता की स्तुति का श्लोक होता था या फिर जिस राजा के उत्सव पर अभिनय हो रहा था उसकी स्तुति का। या फिर वह ब्रह्मा की स्तुति का पाठ करता था, फिर जर्जर के सम्मान के लिए भी वह एक श्लोक पढ़ता था और फिर चारी नृत्य शुरू होता था। इसकी विस्तृत व्याख्या और विधि 'नाट्य-शास्त्र' के बारहवें अध्याय में दी हुई है। यह चारी का प्रयोग पार्वती की प्रीति के उद्देश्य से किया जाता था। क्योंकि पूर्वकाल में शिव ने इस विशेषभंगी से ही पार्वती के साथ क्रीड़ा की थी। इस सविलास अंगविन्चेष्टता-रूप चारी के बाद महाचारी का विधान भी 'नाट्य-शास्त्र' में दिया हुआ है। इस समय सूत्रधार जर्जर या ध्वजा को पारिपार्श्विकी के हाथ में दे देता था। फिर भूतगण की प्रीति के लिए ताण्डव का भी विधान है। फिर विदूषक आकर कुछ ऐसी ऊल-जुलूल बातें करता था जिससे सूत्रधार के चेहरे पर स्मितहास्य छा जाता था और फिर प्ररोचना होती थी, जिससे नाटक के विषय-वस्तु अर्थात् किसकी कौन-सी हार या जीत की कहानी अभिनीत होने वाली है, ये सब बातें बता दी जाती थीं, और तब वास्तविक नाटक शुरू होता था। शास्त्र में ऊपर लिखी गई बातें विस्तारपूर्वक कही गई हैं। परन्तु साथ ही यह भी कहा गया है कि इस क्रिया को संक्षेप में भी किया जा सकता है। अगर इच्छा हो तो और भी विस्तारपूर्वक करने का निर्देश देने में भी शास्त्र चूकता नहीं। ऊपर बताई गई क्रियाओं से यह विश्वास किया जाता था कि अप्सराएँ, गन्धर्व, दैत्य, दानव, राक्षस, गुह्यक, यक्ष तथा अन्यान्य देवगण और रुद्रगण प्रसन्न होते हैं और नाटक निर्विघ्न समाप्त होता है। 'नाट्य-शास्त्र' के बाद के इसी विषय के लक्षण-ग्रन्थों में यह विधि इतनी विस्तारपूर्वक नहीं कही गई है। 'दशरूपक' तथा 'साहित्यदर्पण' आदि में तो बहुत संक्षेप में इसकी चर्चा-भर कर दी गई है। इस बात से यह अनुमान होता है कि बाद को इतने विस्तार और आडम्बर के साथ यह क्रिया नहीं होती होगी। विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' से तो इतना स्पष्ट ही हो जाता है कि उनके ज़माने में इतनी विस्तृत क्रिया नहीं होती थी। जो हो, सन् ईस्वी के पहले और बहुत बाद भी इस प्रकार की विधि रही जरूर है।

यहाँ तक 'नाट्यवेद' सीधा-सादा ही था। 'नाट्य-शास्त्र' के चौथे अध्याय में इसमें एक और क्रिया के जोड़ने की कथा है। वेदों से गृहीत पाठ्य, गीत, अभिनय और रस वाले 'नाट्यवेद' में ब्रह्मा ने पहली बार इतिहास जोड़ा, दूसरी बार कैशिकी वृत्ति के साथ स्त्रियों का

प्रवेश हुआ और तीसरी बार दैत्यजनित बाधा को दूर करने के उद्देश्य से रंगपूजा की विधि जोड़ी गई। अब इतना हो जाने के बाद भरत ने 'अमृत-मन्थन' का नाटक खेला। 'नाट्य-शास्त्र' की कुछ प्रतियों में इसे 'समवकार' कहा गया है, कुछ में नहीं कहा गया है। ब्रह्मा ने फिर इस नाट्य-प्रयोग को शिवजी को दिखाने के लिए कहा। शिवजी ने देखा और प्रसन्न हुए। उन्होंने ब्रह्मा से कहा कि तुमने जो इस नाट्य की सृष्टि की है वह यशस्य है, शुभ है, पुण्य है और बुद्धि-विवर्धक भी है। परन्तु मैंने संन्ध्या-काल में नृत्य करते समय नृत्त को स्मरण किया है, जो अनेक करणों से संयुक्त है और अंगहारों से विभूषित है। पूर्वरंग की तुम्हारी विधि 'शुद्ध' है, इसमें इस नृत्त को जोड़ दोगे तो वह 'चित्र' हो जायगा अर्थात् उसमें वैचित्र्य आ जायगा। फिर शिव ने करणों और अंगहारों की विधि बताई और ब्रह्मा ने ताण्डव-नृत्य का भी नाटक में समावेश किया। यह चौथा संस्कार था। भारतीय परम्परा के अनुसार इन चार कक्षाओं का अतिक्रमण करने के बाद 'नाट्य-शास्त्र' पूर्णांग हुआ। इसे ऐतिहासिक विकास कहा जा सकता है।

### ३. नाट्य-शास्त्र किसके लिए?

भारतीय 'नाट्य-शास्त्र' तीन प्रकार के लोगों को दृष्टि में रखकर लिखा गया है। 'दश-रूपक' आदि परवर्ती ग्रन्थों की तरह वह केवल नाटक लिखने वाले कवियों के लिए मार्गदर्शक ग्रन्थ-मात्र नहीं है। सच पूछा जाय तो वह अभिनेताओं के लिए ही अधिक है, नाटककारों और नाटक समझने वाले सहृदयों के लिए कम! जब तक 'नाट्य-शास्त्र' के इस रूप को नहीं समझा जायगा, तब तक इस विशाल ग्रन्थ के महत्त्व का अनुभव नहीं किया जा सकेगा। सबसे पहले 'नाट्य-शास्त्र' नाटक के अभिनेताओं को दृष्टि में रखकर लिखा गया। इस ग्रन्थ में करण, अंगहार, चारी आदि की विधियाँ, जो विस्तार पूर्वक समझाई गई हैं, नृत्य, गीत और वेश-भूषा का जो विस्तृत विवेचन है, वह भी अभिनेताओं को ध्यान में रखकर किया गया है। रंगमंच का विधान अभिनेताओं की सुविधा को ही दृष्टि में रखकर ही किया जाता था। साधारणतः रंगमंच या प्रेक्षागृह तीन प्रकार के होते थे। जो बहुत बड़े होते थे वे देव-ताओं के प्रेक्षागृह कहलाते थे और १०८ हाथ लम्बे होते थे, दूसरे राजाओं के प्रेक्षागृह होते थे, जो ६४ हाथ लम्बे और इतने ही चौड़े होते थे। तीसरे प्रकार के प्रेक्षागृह त्रिभुजाकार होते थे और उनकी तीनों भुजाओं की लम्बाई ३२ हाथ होती थी। सम्भवतः दूसरी श्रेणी के प्रेक्षागृह ही अधिक प्रचलित थे। ऐसा जान पड़ता है कि राजभवनों में और बड़े-बड़े समृद्धि-शाली भवनों में ऐसे प्रेक्षागृह स्थायी हुआ करते थे। 'प्रतिमा' नाटक के आरम्भ में ही राज-भवन में नेपथ्यशाला की बात आई है। राजा रामचन्द्र के अन्तःपुर में एक नेपथ्यशाला थी, जहाँ रंगभूमि के लिए वल्कल आदि सामग्री रखी हुई थी। साधारण नागरिक-विवाह तथा अन्य उत्सवों के समय अस्थायी रूप से छोटी-छोटी प्रेक्षाणशालाएँ, जो तीसरी श्रेणी की हुआ करती थीं, बनवा लिया करते थे। प्रेक्षणशालाओं का निर्माण अभिनेता की सुविधा के लिए हुआ करता था। इस बात का ध्यान रखा जाता था कि रंगभूमि में अभिनय करने वालों की आवाज अन्तिम किनारों तक अनायास पहुँच सके और सहृदय दर्शकगण उनकी प्रत्येक भाव-भंगिमा को आसानी से देख सकें।

'नाट्य-शास्त्र' रंगमंच के निर्माण को बहुत महत्त्व देता है। भूमि-निर्वाचन से लेकर रंगमंच की क्रिया तक वह बहुत सावधानी से सँभाला जाता था। सम, स्थिर और कठिन भूमि और काली या गौर वर्ण की मिट्टी शुभ मानी जाती थी। भूमि को पहले हल से जोता जाता था। उसमें से अस्थि, कील, कपाल, तृण, गुल्मादि को साफ किया जाता था, उसे सम और पटसर बनाया जाता था और तब प्रेक्षागृह के नापने की विधि शुरू होती थी। 'नाट्य-शास्त्र' को देखने से पता चलता है कि प्रेक्षागृह का नापना बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य समझा जाता था। माप के समय सूत्र का टूट जाना बहुत अमंगल समझा जाता था। सूत्र ऐसा बनाया जाता था, जो सहज ही न टूट सके। वह या तो कपास से बनता था या बेर की छाल से बनता था या मूँज से बनता था और किसी वृक्ष की छाल की मजबूत रस्सी भी काम में लाई जा सकती थी। ऐसा विश्वास किया जाता था कि यदि सूत्र आधे से टूट जाय तो स्वामी की मृत्यु होती है, तिहाई में से टूट जाय तो राज-कोप की आशंका होती है, चौथाई से टूटे तो प्रयोक्ता का नाश होता है ! हाथ-भर से टूटे तो कुछ सामग्री घट जाती है। इस प्रकार सूत्र धारण का काम बहुत ही महत्त्व का कार्य समझा जाता था। तिथि, नक्षत्र, करण आदि की शुद्धि पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता था। और इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता था कि कोई कषाय वस्त्रधारी, हीन वपु, या विकलांग पुरुष मण्डप-स्थापना के समय अचानक आकर अशुभ फल न उत्पन्न कर दे। खम्भा गाड़ने में भी बड़ी सावधानी बरती जाती थी। खम्भा हिल गया, खिसक गया, या काँप गया तो अनेक प्रकार के उपद्रवों की सम्भावना मानी जाती थी। रंगशाला के निर्माण की प्रत्येक क्रिया में भावाजोखी का डर लगा रहता था। पद-पद पर पूजा, प्रायश्चित्त और ब्राह्मण-भोजन की आवश्यकता पड़ती थी। भित्ति-कर्म, माप-जोख, चूना पोतना, चित्र कर्म, खम्भा गाड़ना, भूमि-शोधन प्रभृति सभा क्रियाएँ बड़ी सावधानी से और आशंका के साथ की जाती थीं। इन बातों को न जानने के कारण यह समझना बड़ा कठिन होगा कि सूत्रधार का पद इतना महत्त्वपूर्ण क्यों है। उसकी ज़रा-सी असावधानी अभिनेताओं के सर्वनाश का कारण हो सकती है। नाटक की सफलता का दारमदार सूत्रधार पर रहता है।

राजाओं की विजय-यात्राओं के पड़ाव पर भी अस्थायी रंगशालाएँ बना ली जाती थीं। इन शालाओं के दो हिस्से हुआ करते थे। एक तो जहाँ अभिनय हुआ करता था वह स्थान और दूसरा दर्शकों का स्थान, जिसमें भिन्न-भिन्न श्रेणियों के लिए उनकी मर्यादा के अनुसार स्थान नियत हुआ करते थे। जहाँ अभिनय होता था, उसे रंगभूमि ( या संक्षेप में 'रंग' ) कहा करते थे। इस रंगभूमि के पीछे तिरस्करणी या पर्दा लगा दिया जाता था। पर्दे के पीछे के स्थान को नेपथ्य कहा करते थे। यहीं से सज-धजकर अभिनेता गण रंगभूमि में उतरते थे। 'नेपथ्य' शब्द ( नि+पथ्+य ) में 'नि' उपसर्ग को देखकर कुछ पण्डितों ने अनुमान किया है कि नेपथ्य का धरातल रंगभूमि की अपेक्षा नीचा हुआ करता था, पर वस्तुतः यह उल्टी बात है। असल में नेपथ्य पर से अभिनेता रंगभूमि में उतरा करते थे। सर्वत्र इस क्रिया के लिए 'रंगावतार' ( रंगभूमि में उतरना ) शब्द ही व्यवहृत हुआ है।

## नाट्यधर्मी और लोकधर्मी रूढ़ियाँ

'नाट्य-शास्त्र' नाट्यधर्मी रूढ़ियों का विशाल ग्रन्थ है। इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि बहुत दीर्घ काल से प्रचलित अनेक प्रकार की रूढ़ियाँ इसमें संगृहीत हुई हैं। इसीलिए 'नाट्य-शास्त्र' का जो लक्ष्यीभूत श्रोता है उसे लोक और शास्त्र का बहुत-अच्छा ज्ञाता होना चाहिए। उसे बहुत-से इंगितों का इतना सूक्ष्म ज्ञान होना चाहिए कि वह अभिनेता के एक-एक अंगुली के घुमाव का संकेत ग्रहण कर सके। उसे 'रसशास्त्र' के नियमों का बहुत अच्छा ज्ञान होना चाहिए। अभिनेताओं को विविध प्रकार के अभिनय समझाने के बहाने 'नाट्य-शास्त्र' का रचयिता अपने लक्ष्यीभूत श्रोताओं को न जाने कितनी बातें बता जाता है। पन्द्रहवें अध्याय में दो रूढ़ियों की चर्चा है—एक नाट्यधर्मी, दूसरी लोकधर्मी या लौकिकी (१५-६६)। लोकधर्मी, लोक का शुद्ध और स्वाभाविक अनुकरण है। इसमें विभिन्न भावों का संकेत करने वाली आंगिक अभिनय-भंगिमाओं का समावेश नहीं किया जाता (**अंगलीला विवर्जितम्**)। परन्तु अत्यन्त सांकेतिक वाक्य और क्रियाएँ, लीलांगहार, नाट्योक्त रूढ़ियाँ—जैसे जनान्तिक, स्वगत, आकाशभाषित आदि; शैल, यान, विमान, ढाल, तलवार आदि के संकेत देने वाली रूढ़ियाँ—तथा अमूर्त भावों का संकेत करने वाले अभिनय नाट्यधर्मी हैं। लोक का जो सुख-दुःख-क्रियात्मक आंगिक अभिनय है वह भी नाट्यधर्मी है। संक्षेप में रंग-मंच पर किये जाने वाले वे संकेतमूलक आंगिक अभिनय नाट्यधर्मी हैं जो सीधे अनुकरण के विषय नहीं हैं।

संस्कृत-नाटकों में 'अभिरूपभूयिष्ठा' और 'गुणग्राहिणी' कहकर दर्शक-मण्डली का जो परिचय दिया गया है वह दर्शकों में इन्हीं नाट्यधर्मी गूढ़ अभिप्रायों को समझने की योग्यता को लक्ष्य करके। ये दर्शक शिक्षित होते थे तब तो निस्सन्देह अभिनय की सभी बारीकियों को समझ सकते थे। परन्तु जो पढ़े-लिखे नहीं होते थे वे भी इन रूढ़ियों को आसानी से समझ लेते थे। भारतवर्ष की यह विशेषता रही है कि ऊँची-से-ऊँची चिन्तन-धारा अपने सहज रूप में सामाजिक जीवन में बद्धमूल हो आया करती थी। शास्त्रीय विचार और तर्क-शैली तो सीमित क्षेत्रों में ही प्रचलित होती थी, किन्तु मूल सिद्धान्त साधारण जनता में भी ज्ञात होते थे। यही कारण है कि भारतवर्ष में निरक्षर व्यक्ति भी ऊँचे तत्त्व-ज्ञान की बात आसानी से समझ लेता था। मध्यकाल के निरक्षर सन्तों ने तत्त्व-ज्ञान की जो बातें कही हैं उन्हें देखकर आधुनिक शिक्षित व्यक्ति भी चकित हो जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि जिन दिनों 'नाट्य-शास्त्र' की रचना हुई थी उन दिनों नाट्यधर्मी रूढ़ियाँ साधारण दर्शकों को भी ज्ञात थीं। आजकल जिसे 'क्रिटिकल आडिएंस' कहते हैं वही 'नाट्य-शास्त्र' का लक्ष्यीभूत श्रोता है। २७वें अध्याय में 'नाट्य-शास्त्र' में स्पष्ट कहा गया है कि नाटक का लक्ष्यीभूत श्रोता कैसा होना चाहिए। उसकी सभी इन्द्रियाँ दुरुस्त होनी चाहिएँ; जो व्यक्ति शोकावह दृश्य को देखकर शोकाभिभूत न हो सके और आनन्दजनक दृश्य देखकर उल्लसित न हो सके, जो इतना संवेदनशील न हो कि दैन्य भाव के प्रदर्शन के समय दीनत्व का अनुभव कर सके उसे नाट्य-शास्त्र प्रेक्षक की मर्यादा नहीं देना चाहता। उसे देश-भाषा के विधान का जानकार होना चाहिए, कला और शिल्प का विचक्षण होना चाहिए, अभिनय की बारीकियों का ज्ञाता होना चाहिए, रस और भाव का समझदार होना चाहिए, शब्द-शास्त्र और छन्दःशास्त्र के विधानों से परिचित

होना चाहिए, समस्त शास्त्रों का ज्ञाता होना चाहिए। 'नाट्य-शास्त्र' यह मानता है कि सबमें सभी गुण हों, यह सम्भव नहीं है। वयस्, सामाजिक स्थिति और शास्त्र-ज्ञान का कमबेसी होना स्वाभाविक है। फिर भी इसमें अधिक-से-अधिक गुणों का समावेश होना चाहिए। जवान आदमी शृंगार-रस की बातें देखना चाहता है, वृद्ध लोग धर्माख्यान और पुराणों का अभिनय देखने में रस पाते हैं। 'नाट्य-शास्त्र' इस रुचि-भेद को स्वीकार करता है। फिर भी वह आशा करता है कि प्रेक्षक इतना सहृदय होगा कि अभिनय के अनुकूल अपने को रसग्राही बना सकेगा।

यद्यपि 'नाट्य-शास्त्र' नाट्यधर्मी रूढ़ियों का विशाल संग्रह-ग्रन्थ है, तो भी वह मानता है कि नाटक की वास्तविकता प्रेरणा-भूमि और वास्तविक कसौटी भी लोक-चित्त ही है। परवर्ती-काल के अलंकार-शास्त्रियों ने इस तथ्य को भुला दिया। परन्तु भरत मुनि ने इस तथ्य पर बड़ा जोर दिया। छब्बीसवें अध्याय में उन्होंने विस्तारपूर्वक अभिनय-विधियों का निर्देश किया है। परन्तु साथ ही यह भी बता दिया गया है कि दुनिया यहीं नहीं समाप्त हो जाती। इस स्थावर-जंगम चराचर सृष्टि का कोई भी शास्त्र कहाँ तक हिसाब बता सकता है। लोक में न जाने कितनी प्रकार की प्रकृतियाँ हैं। नाटक चाहे वेद या अध्यात्म से उत्पन्न हो तो भी वह तभी सिद्ध होता है जब वह लोक-सिद्ध हो; क्योंकि नाट्य लोक-स्वभाव से उत्पन्न होता है। इसीलिए नाट्य-प्रयोग में लोक ही सबसे बड़ा प्रमाण है :

**वेदाध्यात्मोपपन्नं तु शब्दच्छन्दः समन्वितम्।**
**लोकसिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम्।**
**तस्मात् नाट्यप्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते।** (२६-११३)

उन्होंने यहाँ तक कहा है कि जो शास्त्र, जो धर्म, जो शिल्प और जो क्रियाएँ लोकधर्मप्रवृत्त हैं, वे ही नाट्य कही जाती हैं :

**यानि शास्त्राणि ये धर्मा यानि शिल्पानि याः क्रियाः।**
**लोकधर्मप्रवृत्तानि तानि नाट्यं प्रकीर्तितम्॥**

इसलिए लोक-प्रवृत्ति नाटक की सफलता की मुख्य कसौटी है। फिर भी अभिनेता को उन बारीक विधियों का ज्ञान होना चाहिए जिनके द्वारा वह सहृदय श्रोता के चित्त में आसानी से विभिन्न शीलों और प्रकृति की अनुभूति करा सके। इसलिए जहाँ तक अभिनेता का प्रश्न है उसे 'प्रयोगज्ञ' अवश्य होना चाहिए। वाचिक, नेपथ्य-सम्बन्धी और आंगिक जितने भी अभिनय शास्त्र में बताये गए हैं वे अभिनेता को प्रयोगज्ञ बनाने की दृष्टि से। क्योंकि जो अच्छा प्रयोग नहीं जानता वह सिद्धि भी नहीं प्राप्त कर सकता। शास्त्रकार ने कहा है :

**गेयास्त्वभिनयाश्चैते वाङ्नेपथ्यांगसंश्रयाः।**
**प्रयोगे येन कर्त्तव्या नाटके सिद्धिमिच्छता॥** (२६-१२२)

कभी-कभी अभिनेताओं में अपने-अपने अभिनय-कौशल की उत्कृष्टता के सम्बन्ध में कलह उपस्थित हो जाता था। साधारणतः ये विवाद दो श्रेणी के होते थे, शास्त्रीय और लौकिक। शास्त्रीय विवाद का एक सरल उदाहरण कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' में है। इसमें रस, भाव, अभिनय, भंगिमा, मुद्राएँ, चारियाँ आदि विचारणीय होती थीं। कुछ दूसरे विवाद ऐसे होते थे जिनमें लोक-जीवन की चेष्टाओं के उपस्थान पर मतभेद हुआ करता था। ऐसे

अवसरों पर 'नाट्य-शास्त्र' प्राश्निक (असेसर) नियुक्त करने का विधान करता है। प्राश्निक के लक्षण 'नाट्य-शास्त्र' में दिये हुए हैं। यदि वैदिक क्रिया-कलाप-विषयक कोई विवाद होता था तो यज्ञविद् कर्मकाण्डी निर्णायक (प्राश्निक) नियुक्त होता था। यदि नाच की भंगिमा में विवाद हुआ तो नर्त्तक निर्णायक होता था। इसी प्रकार छन्द के मामले में छन्दोविद्, पाठ-विस्तार के मामले में वैयाकरण, राजकीय आचरण के विषय में हो तो राजा स्वयं निर्णायक होता था। राजकीय विभव या राजकीय अन्तःपुर का आचरण या नाटकीय सौष्ठव का मामला होता था तो राजकीय दरबार के अच्छे वक्ता बुलाए जाते थे। प्रणाम की भंगिमा, आकृति और उसकी चेष्टाएँ, वस्त्र और आचरण की योजना तथा नेपथ्य-रचना के प्रसंग में चित्रकारों को निर्णायक बनाया जाता था, और स्त्री-पुरुष के परस्पर आकर्षण वाले मामलों में गणिकाएँ उत्तम निर्णायक समझी जाती थीं। भृत्य के आचरण के विषय में विवाद उपस्थित हुआ तो राजा के भृत्य प्राश्निक होते थे।( २७-६३-६७)। अवश्य ही जब शास्त्रीय विवाद उपस्थित हो जाता था तो शास्त्र के जानकारों की नियुक्ति होती थी। इस प्रकार 'नाट्य-शास्त्र' ने स्पष्ट रूप से निर्देश किया है कि लोकधर्मी विधियों की कसौटी लोक-जीवन ही है। (क्रमशः)

*डॉक्टर रामअवध द्विवेदी*

# काव्य में प्रतीक-विधान

भारतवर्ष के आध्यात्मिक साहित्य में प्रतीकों का चमत्कारपूर्ण एवं सफल उपयोग हुआ है। दृष्टान्त के लिए हम उपनिषदों को ले सकते हैं। सूक्ष्म आध्यात्मिक संकेतों से समन्वित अनगिनत प्रतीकों का प्रयोग हमारे उपनिषदों की एक ऐसी विशेषता है जिसकी ओर प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान सहज ही आकृष्ट हुआ है। सूफ़ी तथा सन्त कवियों की रचनाओं में भी प्रतीकों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। इन्हीं प्रतीकों के कारण कभी-कभी उनका काव्य गूढ़ और रहस्यात्मक प्रतीत होता है किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि यदि इन महात्माओं की अनुभूति किसी अन्य शैली में व्यक्त की गई होती तो उसका प्रभाव और वैशिष्ट्य बहुत-कुछ नष्ट हो जाता। सामान्य शब्दों तथा परम्परागत अलङ्कारों में गढ़तम विचारों, भावनाओं एवं अनुभूतियों के समुचित प्रकाशन की शक्ति नहीं होती; अतः प्रतीकों द्वारा भाषा में एक नवीन क्षमता उत्पन्न होती है जिसके सहारे वह अपने उच्चतर कार्य के सम्पादन में सफल होती है। कबीरदास का निम्नलिखित पद देखिए :

> **गगन घटा घहरानी साधो, गगन घटा घहरानी।**
> **पूरब दिस से उठी है बदरिया, रिमझिम बरसत पानी।।**
> **आपन-आपन मेंड़ सम्हारो, बह्यो जात यह पानी।**
> **सुरत-निरत का बेला नहायन, करे खेत निर्वानी।।**
> **धान काटि, माड़ि घर आवै, सोई कुसल किसानी।**
> **दोनों थार बराबर परसै, जेवैं मुनि और ज्ञानी।।**

वर्षा और कृषि के प्रतीकों द्वारा कबीरदास ने ईश्वरीय अनुग्रह तथा चेष्टापूर्वक उसे प्राप्त करने की आवश्यकता की ओर संकेत किया है। इन प्रतीकों का मूल हमारी सामूहिक चेतना में अन्तर्निहित है और इसलिए उनका प्रभाव तत्काल हमारे मन पर पड़ता है। पहली चार पंक्तियों से ईश्वरीय कृपा की वर्षा में सराबोर मानव की जिस आह्लादपूर्ण मानसिक अवस्था की ओर संकेत है उसका वर्णन कोरे शब्दों द्वारा कदापि नहीं हो सकता।

इतना होते हुए भी भारतीय काव्य-शास्त्र में प्रतीकों के रूप, स्वभाव तथा साहित्य में उनकी उपयोगिता के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा गया। यह आश्चर्य की बात है। कदाचित् आचार्यों की यह धारणा थी कि यह विषय काव्य की अपेक्षा अध्यात्म और दर्शन के अधिक निकट है और इसलिए उन्होंने उसका विवेचन वहाँ नहीं किया। अलङ्कारों की इतनी विशद और सूक्ष्म व्याख्या हमारे शास्त्र में मिलती है कि उसको देखते हुए यह भ्रम नहीं हो सकता कि यह विवेचना हमारे आचार्यों की पहुँच के बाहर की चीज़ थी। वस्तुतः शब्द-

शक्तियों के सम्बन्ध में विचार करते हुए वे प्रतीक-शैली की व्याख्या के निकट पहुँच गए हैं। जिस भाँति प्रतीकों के अर्थ और अभिप्राय को हम बाँध नहीं सकते उसी भाँति उत्तम ध्वनि-काव्य के आस्वाद की भी कोई सीमा नहीं है। अपने स्वतन्त्र अस्तित्व, सूक्ष्म रूप तथा असीम प्रभाव में दोनों लगभग एक समान हैं। तब भी व्यञ्जना-व्यापार के सदृश ही प्रतीकों के कार्य पर विचार नहीं किया गया है। यह हमारे शास्त्र का अभाव है, इसे मानने में संकोच नहीं होना चाहिए।

प्रतीक शब्द, जिसका पर्यायवाची अंग्रेज़ी शब्द सिम्बल (Symbol) है, कम-से-कम दो विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है। दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक भाषा में किसी शब्द-विशेष का एक निर्धारित एवं मान्य अर्थ होता है। प्रयोक्ता तथा पाठक या श्रोता दोनों उन पारिभाषिक शब्दों के वास्तविक अभिप्राय के सम्बन्ध में एकमत होते हैं इसीलिए उसके अर्थ ग्रहण करने में कठिनाई नहीं होती। इस प्रकार के प्रतीकों का सर्वोत्तम उदाहरण गणित-शास्त्र में मिलता है। उनकी अत्यधिक उपयोगिता है, क्योंकि उन्हींके सहारे दार्शनिक और वैज्ञानिक चिन्तन आगे बढ़ा है। दूसरे प्रकार के प्रतीक जिनसे इस लेख में हमारा विशेष प्रयोजन है वे हैं, जिन्हें हम अनुभव अथवा अनुभूति की अवस्था-विशेष का शाब्दिक प्रतिरूप कह सकते हैं। इस कोटि के प्रतीकों से केवल किसी सामान्य तथ्य अथवा वस्तु का ज्ञान-मात्र नहीं होता और न केवल समानता का ही बोध होता है। सामान्य सादृश्य के साथ-साथ कुछ ऐसे सूक्ष्म और सांकेतिक तत्त्व मिले रहते हैं और इनके माध्यम से ऐसे विचार और भाव जाग्रत होते हैं, जिनका सीधा सम्बन्ध हम उस प्रतीक अथवा शब्द से सरलता पूर्वक नहीं जोड़ सकते। एक प्रतीकात्मक शब्द अनेक स्तरों पर अपना कार्य करता है और अनेक प्रकार के भाव और मानसिक चित्र उत्पन्न करता है। प्रयास करने पर भी प्रतीकों के सम्पूर्ण अर्थ को हम शब्दों में प्रकट नहीं कर सकते हैं; वह तो अनुभव का ही विषय बन सकता है। प्रतीक में सूक्ष्म निर्देशन की जो शक्ति निहित होती है उसकी कोई सीमा नहीं। किसी निर्देश से उसका कार्य-कारण-सम्बन्ध नहीं है, अतः प्रतीकात्मक कथन में संकेतात्मकता के बाहुल्य के साथ-साथ सामान्य जनों के लिए अस्पष्टता की प्रतीति भी स्वाभाविक है। प्रतीकों का अस्तित्व बहुत-कुछ स्वतन्त्र है, यह बात तुलना से स्पष्ट हो जाती है। दो वस्तुओं अथवा तथ्यों की समानता प्रकट करने के अनेक ढंग हैं जिनका अलग-अलग अपना स्तर है। सबसे निम्न स्तर में शब्दों अथवा चित्रों द्वारा यथार्थ की मात्र-प्रतिकृति प्रस्तुत की जाती है। उससे कुछ ऊँचा उठकर उपमा में दो वस्तुओं की समानता का स्पष्ट उल्लेख होता है। रूपक कई विचारों का मिलन-बिन्दु है तथा उसमें विचार और तत्त्व पुञ्जीभूत होकर एकत्र रहते हैं। एलिगरी अथवा साध्यवसान रूपक में अर्थ के दो स्तर होते हैं, किन्तु इन दोनों का बोध अलग-अलग होता है। हम एक समय एक ही अर्थ ग्रहण करते हैं। 'चिह्न' का प्रायः वही अर्थ है जिसका उल्लेख हमने प्रतीक के प्रथम प्रकार की विवेचना करते हुए ऊपर किया है। शब्द अपनी साधारण अवस्था में एक निर्धारित अर्थ का द्योतन करने वाला चिह्न है। गणित के चिह्नों तथा विज्ञान के चिह्नों की परिगणना इसी श्रेणी में होती है।

बिम्ब अर्थात् इमेज और प्रतीक का अन्तर कुछ विस्तार से विचारणीय है। बिम्ब का स्वरूप और प्रभाव प्रधानतः ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ग्राह्य है। यद्यपि स्पर्श तथा श्रवण से भी

मन में चित्र बनते हैं तथापि अधिकांश बिम्ब दृष्टि से सम्बन्धित होते हैं। कविता में जब ऐसी विशेषता विद्यमान रहती है जिससे मन पर स्पष्ट और मूर्त चित्रों की अवतारणा हो तब हम कहते हैं कि उस काव्य में सुन्दर और सफल संमूर्तन अथवा बिम्ब-विधान हुआ है। चित्रों का स्पष्ट अंकन और मूर्त-रूप में उत्पन्न होना अत्यन्त आवश्यक है। प्रतीक में इस प्रकार चित्राङ्कन अपेक्षित नहीं है। उसका कार्य मन को एक अन्य प्रकार से प्रभावित करना है। प्रतीक किसी पदार्थ का चित्र नहीं खींचता, केवल संकेत द्वारा उसकी विशिष्टता अथवा उसके प्रभाव इंगित करता है। उसका अपना पृथक् अस्तित्व है जो किसी अन्य वस्तु अथवा तथ्य पर अवलम्बित नहीं रहता। उसकी अपनी निजी व्यवस्था में अनेक प्रभावों, प्रयोजनों तथा अर्थों का सूक्ष्म सम्मिश्रण विद्यमान रहता है। बिम्ब और प्रतीक का भेद स्पष्ट करने के लिए हम कह सकते हैं कि पहले का सम्बन्ध शिल्प तथा वास्तु-कला से अधिक है और दूसरे का संगीत से। बिम्बवाद के प्रवर्तकों ने अपनी तत्सम्बन्धी व्याख्या में अनेक बार शिल्प और वास्तु-कला का जिक्र किया है और मलार्मे प्रभृति प्रतीकवाद के प्रवर्तकों ने अपने सिद्धान्त-निरूपण में प्रतीकों के प्रभाव की तुलना संगीत के प्रभाव से की है। निम्नलिखित उदाहरण अन्तर अधिक स्पष्ट करेंगे—

(अ) Above the quiet dock in midnight,
Tangled in the fall mast's carded height,
Hangs the moon, what seemed so far away,
But a child's balloon forgotten after play.

(T. E. Hulme)

(आ) गगन की सेंध पर अटकी,
निगाहें ताल पोखर की
बढ़ा बाहें दुआएँ माँगते,
हैं जोगिया जंगल।
नदी की धार सोयी है,
सिकुड़ दुबली भिखारिन-सी,
बजाते शोहेदों से सीटियाँ,
ये झींगुरों के दल।
पथ बिसरी पहाड़िन सी,
भटकती बिजलियाँ नभ में,
सागर की सतह पर 'क्यू' लगाये
जुड़ रहे बादल।
टिका आराम कुर्सी में,
उबासी ले रहा सूरज,
सुहागिन साँझ के सिर से
सरकता जा रहा आँचल।
सहमी फाख्ताओं से—
समेटे धूप ने डैने

**पछुआ पवन तक का घुट रहा है**
**इस उमस से दम ।**
**बदलती करवटें हर बीज में**
**है बलवती साधें**
**धरा की कोख सूनी-सी**
**क्षितिज की पुतलियाँ है नभ**
**अजब-सा अनमना मौसम—**

(रामविलास शर्मा)

इन दोनों रचनाओं में बिखरे हुए आकर्षक चित्रों का वैशिष्ट्य है, किन्तु अधिकांश चित्र स्थिर हैं। इज़रा फाउण्ड ने स्थिर चित्रों से आगे बढ़कर अपने प्रमुख काव्य 'कैंटोज़' में गतिमान बिम्बों का ही प्रयोग अधिकांश किया है। डाइलान टामस का 'सम्मर्तन' विधान और भी रोचक है। उन्होंने अपनी कृतियों में बहुसंख्यक मूर्त और अमूर्त बिम्बों का सम्यक् व्यवस्था में प्रयोग किया है। नीचे हम रहस्यवादी कवि ब्लेक की एक छोटी सी रचना उद्धृत कर रहे हैं : जिसमें प्रतीकों की श्रृंखला-सी बन गई है—

I dreamt a Dream ! what can it mean ?
And that I was a maiden Queen,
Guarded by an Angel mild,
Wireless woe was ne'er beguild !
And I wept both night and day,
And he wip'd my tears away,
And I wept both day and night,
And hid from him my heart's delight.
So he took his wings and fled;
Then the morn blush'd rosy red;
I dried my tears & arm'd my fears,
With ten thousand shields and spears.
Soon my Angel came again
I was arm'd, he came in vain,
For the time of youth was fled,
And grey hairs were on my head.

अधिकारी विद्वानों का मत है कि उपर्युक्त पंक्तियों में ब्लेक ने बाल्य-काल की सरलता और उसके विनष्ट होने की ओर संकेत किया है। अभिप्राय यह है कि बालोचित सरलता फिर लौटकर नहीं आती है। इस सामान्य अभिप्राय तक पहुँच जाना तो बहुत कठिन नहीं है, किन्तु यह सम्भव नहीं कि हम प्रतीकों का समीकरण करके निश्चित रूप से कह दें कि उनका क्रमशः क्या अर्थ है। इस प्रकार का प्रयास निरर्थक ही नहीं वरन् हास्यास्पद भी होगा।

बिम्ब के तीन प्रकार माने गए हैं। अपनी प्राथमिक अवस्था में वह किसी वास्तविक पदार्थ की स्पष्ट छाया के रूप में प्रकट होता है। अपनी द्वितीय अवस्था में वह किसी पदार्थ

की सीधी छाया नहीं, अपितु उसकी छाया की छाया है। दो दर्पण यदि आमने-सामने रख दिये जायँ और उनके बीच में कोई पदार्थ रख दिया जाय तो इन दर्पणों में न केवल उस पदार्थ का रूप उतरेगा वरन् उन दोनों में पड़ने वाले बिम्ब भी एक-दूसरे में प्रतिबिम्बित होंगे। तृतीय अवस्था में हम इसी प्रक्रिया की कल्पना कुछ आगे तक कर सकते हैं। अब छाया-की-छाया प्रतिबिम्बित होती है। इस तृतीय अवस्था में बिम्ब का रूप इतना सूक्ष्म, अनिश्चित तथा वास्तविक पदार्थ से पृथक् हो जाता है कि किसी अंश में हम उसकी तुलना प्रतीक से कर सकते हैं।

प्रतीकों का सबसे अधिक और स्वाभाविक प्रयोग आलोक-काव्य में देखा जाता है। उच्चतम एवं आल्हादपूर्ण तीव्र आध्यात्मिक अनुभव, दिव्य सत्ता से प्रत्यक्ष साक्षात्कार की अनुभूति, रहस्य-भावना इत्यादि की अभिव्यक्ति में प्रतीकों का सहारा अनिवार्य रूप से लेना पड़ता है। उनकी अभिव्यक्ति की क्षमता साधारण शब्दों तथा रूपकों में नहीं होती। असाधारण भावना एवं अनुभूति का प्रकाशन प्रतीकों के असाधारण माध्यम के द्वारा ही सम्भव है। काव्य के तीन स्तर माने गए हैं। सबसे नीचे स्तर में काव्य का सृजन मन की उस शक्ति द्वारा सम्पन्न होता है जिसको अंग्रेजी में 'फैन्सी' कहते हैं। तथ्यों और विचारों को सामञ्जस्य-पूर्ण रीति से एकत्र करके फैन्सी द्वारा इतिवृत्तात्मक तथा वर्णनात्मक रचनाएँ सरलता पूर्वक की जा सकती हैं। इस प्रकार के संकलन में विचारों और चित्रों के आत्मसात् होने की सम्भावना नहीं रहती। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा गृहीत प्रभावों को मिलाकर एकरस करके नवीन निर्माण-कार्य करने वाली शक्ति को 'इमैजिनेशन' अर्थात् कल्पना की संज्ञा दी गई है। कल्पना द्वारा जीवन के साधारण अनुभवों को रोचक बनाया जा सकता है। तथा उनको एक नई व्यवस्था और नया रूप प्रदान किया जा सकता है। कल्पना द्वारा सर्जित काव्य से एकता का स्पष्ट आभास मिलता है। उसमें विरोध, व्यवधान, तथा प्रभाव-विघटन की आशंका नहीं रहती। आलोक काव्य का स्तर इससे भी कुछ ऊँचा रहता है। उसमें नैसर्गिकता का सन्निवेश रहता है और वह मानव-मन को बहुत गहराई तक प्रभावित करता है। कुछ पण्डितों का यह मत है कि उच्चतम काव्य इसी प्रकार की कृतियों को मानना चाहिए। श्री अरविन्द ने इस मत की स्थापना की है कि कवि की प्रेरणा का स्रोत पारलौकिक आनन्द में है जो सृष्टि के अणु-परमाणुओं में छलकता रहता है। उसी उच्छरित असीम आनन्द का एक अंश कवि को प्राप्त होता है जो उसके मन में प्रेरणा के रूप में कार्य करता है और इस भाँति काव्य की सृष्टि होती है। यदि हम इस मानदण्ड को मान लें तो दाँते प्रभृति आध्यात्मिक कवियों—ब्लेक, ईट्स, वेलरी प्रभृति प्रतीकवादियों को कवियों की परिगणना में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान देना पड़ेगा। जो कुछ हो यह बात तो निस्सन्देह है कि आलोक-काव्य अर्थात् सफल आध्यात्मिक तथा रहस्यवादी काव्य में प्रतीकों का उपयोग नितान्त आवश्यक होता है! सुविख्यात ईसाई रहस्यवादी सन्त कवि जान आफ दी क्रॉस की रचनाएँ हम उदाहरण के लिए ले सकते हैं।

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि हम काव्य के उस उच्च स्तर तक कैसे पहुँच सकते हैं जहाँ प्रतीकों का अनिवार्य प्रयोग होता है। निर्माण-पद्धति की दृष्टि से यदि हम प्राथमिक बिम्बों से आगे बढ़कर द्वितीय कोटि के बिम्बों की अवस्था को पार करते हुए उनकी तृतीय

अवस्था तक पहुँच जायँ और हमारे मन में तीव्र अनुभूति और आह्लाद की शक्ति हो तो हमारे लिए प्रतीकवादी अथवा रहस्यवादी काव्य लिखना सम्भव हो सकता है। किन्तु यह मार्ग कठिन है और अनेक कल्पित सम्भावनाओं पर निर्भर है। अतएव आलोक-काव्य के अधिकांश रचयिताओं ने किसी दैवी शक्ति से प्रेरित होकर काव्य-निर्माण किया है। यूरोपीय प्रतीकवादी कवियों ने बार-बार इस बात का उल्लेख किया है कि किसी बाह्य शक्ति के वशीभूत होकर ही उन्होंने काव्य सृजन किया है। उन्होंने आत्म-विभोर होकर किसी अपरोक्ष सत्ता के आदेश का पालन-मात्र किया है। इसलिए उनकी रचना की जिम्मेदारी उनके ऊपर केवल आंशिक रूप में है, उनके कथन का यही सार मालूम होता है। अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। जर्मन प्रतीकवादी रिल्के महीनों तक कुछ नहीं लिखता था, किन्तु संकेत मिलने पर एक या दो दिन में प्रचुर काव्य-निर्माण कर डालता था। रूसी कवि ब्लोक की एक देवी थी जो उसे समय-समय पर प्रेरित करके उससे काव्य लिखवाती थी। काव्य की अधिष्ठात्री Muse बार-बार न केवल प्रेरणा वरन् शब्द और छन्द कवियों के मन में भर देती है और वे उसे केवल एक माध्यम की भाँति अंकित करते हैं। यह बात बार-बार कही गई है। अतिमानवीय स्रोत से उत्पन्न कविता में प्रतीकों का रहना स्वाभाविक है। इन प्रतीकों का निर्माण कवि विचारपूर्वक नहीं करता, वे तो भाव और विचारों के साथ ढले हुए अनायास कवि की वाणी में प्रवेश पाते हैं। प्रतीकों के समझने में जो कठिनाई होती है इसका बहुत-कुछ यह भी कारण है।

मनोविज्ञान-शास्त्र के महापण्डित युंग की स्थापनाओं से प्रतीकों की विशेषताओं को समझने में बहुत सहायता मिली है। फ्रायड ने भी स्वप्नों के विश्लेषण के सन्दर्भ में प्रतीकों की काफी चर्चा की है, किन्तु काव्य में प्रयुक्त प्रतीकों की जानकारी के लिए युग के विचारों की उपादेयता कहीं अधिक है। युंग महोदय ने साइकी (Psyche) अर्थात् चित्त के तीन खण्ड माने हैं। (१) चेतन-मन (२) व्यक्तिगत अचेतन मन (३) समष्टि अचेतन मन। प्रतीकों का सम्बन्ध अचेतन मन की दोनों अवस्थाओं से है किन्तु अधिकांश प्रतीकों का मूल समष्टिगत अचेतन मन में रहता है। चित्त के इस गहरे खण्ड में अनन्त काल से चले आने वाले परिवारगत, समूहगत एवं जातिगत प्रभाव और स्मृतियाँ दबी पड़ी रहती हैं और समय-समय पर वे चेतन मन की ओर अग्रसर होती हैं। अनेक प्रतीकों को हम इसी अचेतन अवस्था के सम्बन्ध में रखकर समझ सकते हैं। दूर-दूर स्थलों में रहने वाले लोगों के लोक-काव्य, लोक-कथा और कल्पित कथा में जो साम्य और एकरूपता लक्षित होती है उसके कारण भी हम युंग के विचारों के सहारे समझते हैं। युंग ने मनोवैज्ञानिक काव्य और आलोक-काव्य का भेद अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है। मनोवैज्ञानिक काव्य चेतन मन की क्रियाओं से सम्बन्ध रखता है। कल्पना चेतन मन की शक्ति है और उसका सम्बन्ध अचेतन मन से नहीं है। आलोक-काव्य का उत्स अचेतन मन में रहता है अतएव उसमें रहस्यात्मकता तथा अस्पष्टता बनी रहती है। जर्मन कवि गेटे के अमर काव्य 'फाउस्ट' के प्रथम खण्ड को मनोवैज्ञानिक काव्य तथा द्वितीय खण्ड को आलोक-काव्य के उदाहरण में ले सकते हैं।

प्रतीकों का रूप और अर्थ ठीक-ठीक निश्चित करना अत्यन्त कठिन कार्य है और

इसलिए उनका सम्यक् वर्गीकरण भी सरल नहीं है। उनकी अस्पष्टता को ध्यान में रखकर कोलरिज ने एक रोचक परिभाषा बनाई है। उसके अनुसार प्रतीक-विधान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसके अन्तर्गत जाति का पारप्रकाशित्व व्यक्ति में अथवा सामान्य का विशिष्ट में विद्यमान रहता है। मुख्यतः अनन्त का पारप्रकाशित्व सान्त में और उसके द्वारा उसके परे भी परिलक्षित होता है। स्वरूप की इस सूक्ष्मता के रहते हुए भी प्रतीकों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है। इन वर्गों को एक-दूसरे से पृथक् करना सम्भव नहीं है। इसीलिए उनके भेद पर अधिक बल भी देना उचित नहीं है। सर्वप्रथम हम उन परम्परागत प्रतीकों का उल्लेख कर सकते हैं जिनका अर्थ भूतकाल से बहुत-कुछ अपरिवर्तित रूप में चला आया है। साहित्य में तथा कुछ सन्तों की रचनाओं में इस प्रकार के अनेक प्रतीक मिलते हैं। क्रॉस, तलवार, अग्नि, लिली का फूल इत्यादि प्रतीक परम्परागत हैं तथा उनसे इंगित होने वाला अर्थ सरलतापूर्वक ग्राह्य है। इसी प्रकार के सर्व स्वीकृत प्रतीक गिरजाघरों और मन्दिरों पर अक्सर अंकित मिलते हैं। इनमें और व्यक्तिगत प्रतीकों में मौलिक भेद हैं। इस दूसरी कोटि के प्रतीकों का सीधा सम्बन्ध कवि की निजी अनुभूति और प्रेरणा से रहता है। और उन्हींको अभिव्यक्त करने के लिए वह विशिष्ट प्रकार के प्रतीकों की कल्पना करता है। आधुनिक कवियों की रचनाओं में व्यक्तिगत प्रतीकों का ही आधिक्य रहता है। यद्यपि उसके साथ परम्परागत प्रतीक भी मिले रहते हैं। ब्लेक, यीट्स, डाइलानटामस प्रभृति अंग्रेजी कवियों की कृतियों में बहुसंख्यक व्यक्तिगत प्रतीक मौजूद हैं। तीसरी कोटि के प्रतीकों को हम प्राकृतिक प्रतीक कह सकते हैं, क्योंकि प्राकृतिक उपकरणों को प्रतीकत्व प्रदान करके ही उनकी सृष्टि होती है। इस प्रकार की व्यवस्था में नदी, पर्वत, सुमन इत्यादि का एक सांकेतिक सूक्ष्म अर्थ रहता है। इस कोटि के प्रतीक सर्वाधिक ग्राह्य होते हैं।

यद्यपि प्रतीकों का महत्त्व और काव्य में उनकी उपयोगिता पहले से ही सर्वमान्य थी तथापि एक सशक्त आन्दोलन के रूप में प्रतीकवाद का आविर्भाव १८९० के लगभग फ्रान्स में हुआ। इसका जन्म एक ओर वैज्ञानिक बुद्धिवाद और दूसरी ओर पारनेशियन समुदाय के कलाकारों की यथातथ्य-निरूपण-पद्धति के प्रतिक्रिया-स्वरूप हुआ। मानव-जाति की आदि काल से आज तक की इस दीर्घ यात्रा में प्रतीकों ने सदैव मौन-भाषा का कार्य किया है। प्रारम्भ से ही यह माना गया है कि भौतिक पदार्थ की पृष्ठभूमि में आध्यात्मिक यथार्थ प्रच्छन्न रहता है। इस अध्यात्म-जगत् के सूक्ष्म और पारलौकिक अनुभव, जो साधारण शब्दों से परे हैं, प्रतीकों द्वारा ही किसी अंश में व्यक्त किये जा सकते हैं, क्योंकि प्रतीकों में शब्दों की अपेक्षा संकेतात्मकता कहीं अधिक रहती है। यही कारण है कि सर्वत्र आध्यात्मिक साहित्य में प्रतीकों की प्रधानता रहती है। ईसाई धार्मिक साहित्य जल, अग्नि, लिली-सदृश प्रतीकों से परिपूर्ण है। ट्रीनीटी अर्थात् त्रिमूर्ति की कल्पना, लिली का प्रतीक-चिह्न इत्यादि ईसाई धर्म की प्रारम्भिक अवस्था में गृहीत हुए और रोमन तथा यूनानी ईसाई-मत के गिरजाघरों की मूर्ति तथा चित्र-कला में आज भी उनके प्रयोग के उदाहरण संरक्षित हैं। प्रत्येक युग में कवियों ने अपनी तीव्र अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों से काम लिया है। उदाहरणार्थ ब्लेक ने अपनी प्रबल रहस्यात्मक अनुभूतियों को प्रतीकों के माध्यम द्वारा ही प्रेषित किया है। ब्लेक की काव्य-रचनाओं के अर्थ-ग्रहण में उन लोगों को विशेष कठिनाई

होती है जो केवल शब्दों के उस व्यापार से परिचित हैं जिसका सम्बन्ध तर्क तथा जीवन के सामान्य अनुभव से है। अमरीकन कवि तथा कथाकार एडगर एलिन पो फ्रांसीसी प्रतीकवादियों का पूर्ववर्ती आचार्य था जिसके ऋण को मलार्मे ने स्वीकार किया है। उसके विचारों में मलार्मे की इस धारणा का पूर्वरूप मिलता है कि कविता के रहस्यात्मक एवं नैसर्गिक स्वरूप का आभास सर्वोत्कृष्ट रीति से ध्वनि और लय से ही मिल सकता है। पो का कथन है कि वह जो केवल गाता है चाहे उसके गायन में कितना भी उत्साह निहित हो अथवा उसकी कृति में ऐसे दृश्यों, ध्वनियों, रंगों और भावनाओं का वर्णन जिसका उसे सामान्य अनुभव है कितना भी स्पष्ट और उभरा हुआ हो, मैं कहूँगा कि ऐसे कवि ने अभी तक अपनी वास्तविक महत्ता का प्रमाण नहीं दिया है। कवि-कर्म केवल साधारण सौन्दर्य के दर्शन तक सीमित नहीं है, बल्कि वह नैसर्गिक सौन्दर्य तक पहुँचने का उन्मत्त प्रयास है। जीवन से परे जो सौन्दर्य छिपा हुआ है उसके आभास से प्रेरित होकर हम (कविगण) ससीम जगत् की वस्तुओं और विचारों के अनेक मिश्रित निरूपणों द्वारा उस सौन्दर्य को प्राप्त करने के निमित्त कठिन प्रयास करते हैं जिसका सम्पूर्ण ऐश्वर्य अनन्त का ही एक अंश है। और इसलिए जब हम कविता द्वारा अथवा संगीत द्वारा, जो काव्य का ही सर्वोपरि प्रभावोत्पादक रूप है, विगलित होकर अश्रुपात करते हैं तब हम आनन्दातिरेक से नहीं रोते वरन् उद्वेलित और अधीर होकर; इसलिए नैराश्य और दुःख का अनुभव करते हैं कि हम इस जगत् और पार्थिव जीवन में उस दैवी और आह्लादमय परम सौन्दर्य को सद्यः और सदा के लिए नहीं प्राप्त कर सकते जिसकी क्षणिक और अस्पष्ट झाँकी हमें कविता अथवा संगीत में मिलती है। वाल्ट ह्विटमैन एक अन्य अमरीकी कवि था, जिसकी रचनाओं में बिम्बों और प्रतीकों का पर्याप्त उपयोग उपलब्ध है। पो की भाँति उसने भी अपने समसामयिक और परवर्ती प्रतीकवादियों को प्रभावित किया। फ्रान्सीसी कवियों में बादलेयर की रचनाएँ ऐसी हैं जिनमें एक विशिष्ट वातावरण और तीव्र अनुभूति के सम्मिश्रण से एक ऐसे प्रभाव की सृष्टि हुई है जिसका प्रकाशन प्रायः प्रतीकों द्वारा हुआ है। जिरार्ड डी नरवल, जिसका देहावसान १८५५ में हुआ, प्रथम फ्रान्सीसी प्रतीकवादी कवि माना जाता है। उसका सम्पूर्ण जीवन एक अनवरत विभ्रम था और उसकी कविता उसके असाधारण स्वप्नों का द्योतन करती है।

फ्रांसीसी प्रतीकवादी आन्दोलन का औपचारिक प्रारम्भ १८८६ में हुआ। उसी वर्ष 'फिगैरो' नामक पत्र में प्रतीकवादी-सम्प्रदाय के संगठन की घोषणा प्रकाशित हुई, जिसमें लिखा गया था कि प्रतीकवादी कविता का उद्देश्य प्रत्ययों को इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य रूप देना है; किन्तु यह उसका अन्तिम ध्येय नहीं है अतएव इस प्रकार की कला में मूर्त दृश्य केवल इन्द्रियग्राह्यरूप हैं जिनका चरम लक्ष्य आदिम प्रत्ययों से अपने निहित साम्य का सांकेतिक परिचय देना है। सन् १८८६ में ही वर्लेन और मलार्मे को केन्द्र बनाकर अनेक नवयुवक कवि एकत्र हुए और इस प्रकार उन दो प्रतीकवादी वर्गों की स्थापना हुई जिनके सैद्धान्तिक विश्वासों में किसी अंश तक तात्विक भेद था। वर्लेन के अनुयायियों ने अपने आचार्य की कविता से आवेगपूर्ण नैराश्य ग्रहण किया जिसका समावेश उन्होंने ऐसी रचनाओं में किया, जो शैली की दृष्टि से अत्यन्त सरल और सुस्पष्ट थीं। मलार्मे द्वारा प्रतिपादित काव्य का आदर्श अपेक्षाकृत जटिल और दुरूह था तथा जिस शैली और विधान को उसने प्रस्तुत किया उसका

अनुकरण सरल नहीं था, परन्तु १८८६ के पूर्व रिम्बों ने इस आन्दोलन को महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ प्रदान की थीं; यद्यपि उसका विकसित रूप रिम्बों के काव्य-रचना छोड़ने के अनेक वर्षों बाद सामने आया। उसने लिखा है "सभी प्रकार के इन्द्र-जाल में मेरा विश्वास है···मैंने विभिन्न स्वरों के रंगों का आविष्कार किया······'ए' का रंग काला है, 'ई' का रंग श्वेत, 'आई' का रंग लाल, 'ओ' का रंग नीला, और 'यू' का रंग हरा। मैंने प्रत्येक व्यञ्जन के जाति और रूप को नियन्त्रित किया और लय के स्वाभाविक ज्ञान द्वारा मैंने काव्योचित भाषा की सृष्टि की है, ऐसा मेरा दावा है। मेरा विश्वास है कि यह भाषा एक दिन अर्थ के विभिन्न स्तरों का बोध कराने की शक्ति प्राप्त करेगी। मैंने विभ्रम का अभ्यास किया। मैंने स्पष्टतया देखा···कारखाने के स्थान पर मसजिद, देवदूतों द्वारा परिचालित संगीत-शिक्षण केन्द्र, स्वर्ग के राज-मार्ग पर चलने वाले रथ, सरोवर के तल में स्थित संलाप-कक्ष। तब मैंने अपनी ऐन्द्रजालिक विभ्रमजन्य अनुभूतियों की व्याख्या शब्दों की माया के सहारे की। इस प्रकार अन्ततोगत्वा मैंने अपनी मानसिक विशृङ्खलताओं में से एक पवित्र वस्तु ढूँढ़ निकाली।" बर्लेन, जिसका पहले कई वर्षों तक पारनेशियन वर्ग से सम्बन्ध रह चुका था, रिम्बो द्वारा प्रभावित हुआ और दोनों की मैत्री के उपरान्त बर्लेन की कविता में अद्‌भुत परिवर्तन उत्पन्न हुआ। यह परिवर्तन निश्चित रूप से १८८२ के उपरान्त द्रष्टव्य हुआ। बर्लेन ने अपनी नवीन काव्य-दृष्टि का विवेचन 'आर्टपोयटिक' में किया है। १८८६ के बाद शताब्दी के अन्त तक प्रतीकवादी आन्दोलन का ही प्राधान्य फ्रांस में बना रहा। यद्यपि वर्तमान शती के प्रारम्भिक वर्षों में कुछ परिवर्तन हुआ तथा कुछ नवीन प्रवृत्तियाँ लक्षित हुईं तब भी प्रतीकवादी काव्य-सिद्धान्त का प्रसार अब तक निरन्तर होता आया है। बीसवीं शती में अनेक प्रतिभा-सम्पन्न प्रतीकवादी कवि और नाटककार हुए हैं। जिनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय है—फ्रांस में मैटरलिंक, क्लाडेल और बेलरी, जर्मनी में जार्ज और रिल्के, रूस में ब्लाक और चेखव, आयरलैण्ड में सिंज, यीट्स आदि स्काटलैण्ड में बैरी, इंग्लैण्ड में टी० एस० इलियट तथा अमरीका में कजीन 'ओ' नील।

प्रतीकवाद का मूल उद्‌गम प्लेटो और निओ-प्लेटानिस्ट दार्शनिकों की रचनाओं में प्राप्य है। प्रतीकवाद का साम्य उन्नीसवीं शती के आदर्शवादी दर्शन की स्थापनाओं से भी है। अठारहवीं शताब्दी में स्वेडेन वर्ग ने 'करेसंपोडेस का सिद्धान्त' निरूपित किया और इस भाँति प्रतीकों द्वारा वैयक्तिक अनुभवों के प्रकाशन की परम्परा को शक्ति मिली। आगे चलकर बादलेयर इस नवीन सिद्धान्त से प्रभावित हुआ और उसने 'सिनेस्थेसिस' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया; जिसके द्वारा इस मत की स्थापना हुई कि दृष्टि, श्रवण, घ्राण तथा स्पर्श द्वारा प्राप्त अनुभवों का साम्य है और वे आपस में परिवर्तनीय हैं।

उन्नीसवीं शती के प्रायः अन्तिम पन्द्रह वर्षों में प्रतीकवाद एक जाग्रत साहित्यिक आन्दोलन के रूप में प्रकट होकर प्रतिष्ठित हुआ। जैसा कि हम लिख चुके हैं इसका आविर्भाव वैज्ञानिक एवं बौद्धिक प्रकृतवाद की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। अतः इसका मुख्य उद्देश्य था कविता को भौतिकता एवं कृत्रिमता से मुक्त करके आध्यात्मिक प्रभाव से समन्वित करना। मूलतः प्रतीकवाद काव्य के रहस्य-पक्ष को ही मान्यता प्रदान करता है। इसका प्रारम्भ भौतिक संसार से परे किसी उच्चतम यथार्थ की अभिज्ञता से होता है। कवि उसी

आध्यात्मिक यथार्थ की व्यक्तिगत एवं तीव्र अनुभूति को प्रेषित करता है। इस प्रकार की प्रेषणीयता के लिए शब्द अशक्त और भाषा को सौन्दर्य प्रदान करने वाले अलंकार अपर्याप्त सिद्ध हुए हैं और इसीलिए प्रतीकों की योजना होती है। ये प्रतीक तीव्र आध्यात्मिक भावनाओं को व्यक्त करने में सर्वाधिक समर्थ हैं, यद्यपि इनके द्वारा उन अनुभूतियों का सम्पूर्ण प्रकाशन कदापि नहीं हो सकता। कार्लाइल ने लिखा है कि प्रतीकों में एक साथ ही गोपन और प्रकाशन की क्षमता रहती है जिसके परिणामस्वरूप मौन और वाणी के सम्मिलित कार्य से दोहरे अर्थ की अभिव्यञ्जना होती है। शब्द केवल अर्थ की व्याख्या कर सकते हैं, अतः उनका प्रभाव हमारी प्रज्ञा पर पड़ता है, किन्तु प्रतीक संयोग और संकेत की शक्ति से परिपूर्ण रहते हैं और उस यथार्थ को इंगित करते हैं जिसका वर्णन शब्दों द्वारा सम्भव नहीं। यही कारण है कि आदियुग से धार्मिक और आध्यात्मिक अनुभवों का प्रकाशन प्रतीकों द्वारा होता आया है। उन्नीसवीं शती के फ्रांसीसी प्रतीकवादी आचार्यों की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि जिस परम सत्ता को उन्होंने अपने काव्य का विषय बनाया उसका सम्बन्ध अध्यात्म से नहीं वरन् सौन्दर्य से था। मलार्मे का दृढ़ विश्वास था कि जो सिद्धि भक्त को आराधना से उपलब्ध है वही कला-प्रेमी कला द्वारा प्राप्त कर सकता है। इसी धारणा से हेनरी ब्रीमाण्ड के इस मत का सूत्रपात हुआ कि काव्य आराधना का ही एक प्रकार है। मलार्मे का भी यह मत था कि कविता में मन्त्र की शक्ति होती है।

प्रतीकवादी कविता में मन्त्र-शक्ति की अपेक्षा करते हैं और यह मानते हैं कि यह काफी नहीं है कि वह केवल विचारों का वहन बुद्धि तक करें। उसका प्रयास गोचर द्वारा अगोचर की अभिव्यक्ति करना है और इस कार्य के लिए प्रत्येक कवि ने अपने लिए नवीन प्रतीकों की योजना की है। प्रतीकवादी कविता मुख्यतः तीव्र वैयक्तिक अनुभूति का ही प्रकाशन करती है। अतः इसकी सीमा से बहुत से सामान्य विषय बाहर रह जाते हैं; उदाहरण-स्वरूप राजनीतिक अथवा सामाजिक विषय इस प्रकार की कविता के लिए नितान्त अनुपयुक्त है। इस प्रकार इसकी सीमा कुछ संकुचित हो जाती है, किन्तु अपनी सीमित परिधि में प्रतीकवादी काव्य अनुपम गम्भीरता और तीव्रता रखता है। बर्लेन और मलार्मे के काव्य-संगीत में अन्तर है, किन्तु दोनों ही काव्य और संगीत के सान्निध्य को स्वीकार करते हैं। बर्लेन की कविता में पक्षियों के कलरव का सरल माधुर्य है किन्तु मलार्मे का काव्य-संगीत आर्केस्ट्रा के संगीत की भाँति प्रतिध्वनित होता है। इस भेद के होते हुए भी दोनों ने पो द्वारा प्रतिप्रादित संगीत और काव्य के पारस्परिक निकट सम्बन्ध को निःसंकोच माना है। वैगनर के संगीत की अत्यन्त सांकेतिक विशेषता इन कवियों के लिए काव्यात्मक प्रभाव की चरम सीमा थी। जर्मन प्रतीकवादी रिल्के ने मूर्ति-कला को भी संगीत की भाँति ही संकेतात्मक क्षमता से परिपूर्ण माना है।

हिन्दी-काव्य में प्रतीकों का प्रयोग कहाँ-कहाँ और किस प्रकार हुआ है इसका विस्तार पूर्वक विवेचन यहाँ नहीं किया जा रहा। यह तो एक अलग निबन्ध अथवा पुस्तक का विषय है। तब भी उपर्युक्त व्याख्या को स्पष्ट करने के लिए हम आगे थोड़े-से उद्धरण प्रस्तुत करेंगे। सिद्ध कवियों की रचनाओं से लेकर हिन्दी के आधुनिकतम काव्य तक अनवरत रीति से प्रतीकों का प्रयोग होता आया है, किसी काल में कुछ अधिक और किसी काल में

कुछ कम सिद्ध कवियों की रचनाओं में प्रयुक्त प्रतीकों के साम्प्रदायिक अर्थ और संकेत होने के कारण उनके विषय में कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। कबीर की कविता में प्रतीक भरे पड़े हैं। उनमें कुछ का सम्बन्ध हठ योग की क्रियाओं से है, किन्तु कुछ अन्य विशुद्ध आध्यात्मिक महत्त्व रखते हैं। भक्ति की विह्वलता और तन्मयता, वियोग की पीड़ा, मिलन का आह्लाद इत्यादि प्रतीकों द्वारा अत्यन्त सफलता पूर्वक व्यक्त हुए हैं।

उदाहरणार्थ :

**भीजें चुनरिया प्रेम-रस बूँदन,**
**आरति साज के चली है सुहागिन पिय अपने को ढूँढन।**
**काहे की तोरी बनी है चुनरिया काहे के लागे फूँदन।**
**पाँच तत्त्व की बनी है चुनरिया नाम के लागेन फूँदन।**
**चढ़िगे महल खुल गइरें किबरिया दास कबीर लागे भूलन।**

जायसी के प्रतीक-विधान का सम्बन्ध सूफी-विश्वासों तथा उपासना-पद्धति से है। किन्तु इतना होते हुए भी कबीर की अपेक्षा स्थान-स्थान पर तीव्र मनोवेगों का मुक्त चित्रण 'पद्मावत' में अत्यन्त सुन्दरता से हुआ है। प्राकृतिक प्रतीकों का अधिकता से प्रयोग किया गया है। नागमती के विरह-वर्णन का निम्न अंश देखिये :

**सावन बरस मेंह अति पानी। भरनि परी हौं बिरह झुरानी॥**
**लाग पुनर बपु पीउ न देखा। भई बाउरि, कहँ कंत सरेखा॥**
**रकत के आँसु परहि भुइँ टूटी। रेंगि चली जस बीर बहूटी॥**
**सखिन्ह रचा पिउ संग हिंडोला। हरियरि भूमि कुसंभी चोला॥**
**हिय हिंडोल अस डोलै मोरा। बिरह झुलाई देई झकझोरा॥**
**बार असूझ अथाह गंभीरी। जिउ बाउर, या फिरें भँभीरी॥**
**जग जल बूड़ जहाँ लगि ताकि। मोरि नाव खेवक बिनु थाकी॥**
**परबत समुद अगम बिच, बीहड़ घन बन ढाँख॥**
**किमि के भेटौ कंत तुम्ह? ना मोहि पाँव न पाँख॥**

बीसवीं शती के हिन्दी-काव्य में प्रतीकों का प्रयोग बहुतायत से हुआ है। छायावाद-काल में जो रूमानी कविता लिखी गई उस पर रवीन्द्रनाथ की कविता का प्रभाव असन्दिग्ध है। रवीन्द्र का काव्य विशेषकर वर्तमान शती के पहले १५ वर्षों में लिखी गई उनकी रचनाओं में प्रतीकों का अक्षय भण्डार है। कवीन्द्र पर उपनिषदों, भक्ति-काव्य, कबीर तथा उन्नीसवीं शती के यूरोपीय प्रतीकवादियों का प्रभाव सम्मिलित रूप में पड़ा था। इसके अतिरिक्त उनकी नवोद्भाविनी प्रतिभा ने बिलकुल नये प्रतीकों का निर्माण किया। हिन्दी की छायावादी कवियों की कृतियों ने कवीन्द्र रवीन्द्र से प्रभाव ग्रहण किया, किन्तु इसके अतिरिक्त उनकी अपनी विचार-परम्परा थी और वे भी उन प्राचीन स्रोतों तक गये जिनसे कवीन्द्र ने प्रेरणा प्राप्त की थी। प्रसाद ने उपनिषदों तथा इतर धर्म-ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया था और उनके ज्ञान और चिन्तन का प्रमाण उनके महाकाव्य तथा उनकी अन्य रचनाओं में उपलब्ध है। श्रीमती महादेवी वर्मा ने लिखा है कि उपनिषदों के प्रति उनका विशेष आकर्षण है। प्रसाद और महादेवी जी दोनों ही किसी अंश में प्रतीकवादी परम्परा के काव्य-प्रणेता हैं।

नीचे हम दोनों की कविताओं से उद्धरण दे रहे हैं :

झंझा झकोर गर्जन है
बिजली है नीरद माला,
पाकर इस शून्य हृदय को
सबने आ डेरा डाला।

बिजली माला पहने फिर
मुसकाता-सा आँगन में।
हाँ! कौन बरस जाता है
रसबूँद हमारे मन में?

पतझड़ था, झाड़ खड़े थे
सूखी-सी फुलवारी में।
किसलय नव कुसुम बिछाकर
आये तुम इस क्यारी में।।

प्रसाद ने 'कामायनी', 'आँसू' तथा अनेक अन्य कविताओं में बार-बार कुछ बँधे हुए प्रतीकों से काम लिया है, जैसे सागर, लहर, झंझा इत्यादि। 'आँसू' में उनकी शैली आद्योपान्त प्रतीकात्मक है। इसी भाँति 'कामायनी' के कुछ खण्ड संकेतपूर्ण चित्रों से भरे पड़े हैं। श्रीमती महादेवी वर्मा के भी कुछ बार-बार आने वाले प्रतीक हैं। दीपक से उनका विशेष प्रेम है और सुमन, ज्वाला, नौका, अँधियारी इत्यादि से सम्बोधित प्रतीक भी अनेक बार दुहराये गए हैं। किन्तु यह सर्वमान्य है कि महादेवी की की कुछ रचनाएँ न केवल संकेतात्मक हैं, किन्तु शैली के निर्माण-सौष्ठव की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी हैं। उदाहरणार्थ :

कीर का प्रिय आज पिंजर खोल दो!

हो उठी हैं चंचु छूकर,
तीलियाँ भी वेणु सस्वर,
बन्दिनी स्पन्दित व्यथा ले,
सिहरता जड़ मौन पिंजर।
आज जड़ता में इसी की बोल दो!

जग पड़ा छू अश्रु-धारा,
हत परों का विभव सारा,
अब अलस बन्दी युगों का
ले उड़ेगा शिथिल कारा।
पंख पर वे सजल सपनें तोल दो!

क्या तिमिर, कैसी निशा है,
आज विदिशा ही दिशा है,

द्वार-खग आ निकटता के,
अपर बन्धन में बसा है,
प्रलय घन में आज राका घोल दो !

चपल पारद-सा विकल तन,
सजल नीरद-सा भरा मन,
नाप नीलाकाश ले जो,
बेड़ियों का माप यह बन,
एक किरण अनन्त दिन की मोल दो !

पन्त और 'निराला' की कविताओं में प्रतीक की अपेक्षा चित्र और बिम्ब अर्थात् इमेज का ही चमत्कार अधिक है। उनमें प्रकृति का सुन्दर चित्रांकन हुआ है और परिस्थितियों तथा रूपों के मूर्त प्रदर्शन में दोनों ही कवियों को आश्चर्यजनक सफलता मिली है। 'कुकुर-मुत्ता' और 'गुलाब' दोनों ही प्रतीक हैं, एक सर्वहारा का और दूसरा अभिजात वर्ग का। किन्तु दोनों की तुलना इतनी विस्तृत एवं स्पष्ट है कि प्रतीकों की आवश्यक संकेतात्मकता प्रायः नष्ट हो गई है। इसी भाँति पन्त के परिवर्तन में अनेक प्रतीक मिलते हैं, किन्तु वहाँ भी बातें इतनी साफ-साफ कही गई हैं और तुलनात्मक पद्धति का इतना स्पष्ट प्रयोग हुआ है कि प्रतीक न कहकर हम उन्हें उपमा अथवा रूपक की ही संज्ञा देना अधिक समीचीन समझते हैं। इन कवियों ने अपनी नवीनतम कृतियों में आध्यात्मिक उद्देश्य के साथ-साथ यदा-कदा प्रतीकात्मक शैली का भी आश्रय लिया है, किन्तु सब मिलाकर यही कहना पड़ेगा कि पन्त और 'निराला' के काव्य में प्रसाद और महादेवी के काव्य की अपेक्षा प्रतीकात्मकता न्यून है। हिन्दी के आधुनिक कवियों में कतिपय ऐसे भी कवि हैं, जिनको प्रतीकों का प्रयोग विशेष प्रिय है। श्री 'अज्ञेय' का नाम इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय है। उनकी अनेक रचनाओं में प्रतीक मिलते हैं और कुछ कविताएँ तो ऐसी हैं जो आद्योपान्त प्रतीक-कल्पना के आधार पर ही निर्मित हुई हैं। हम नीचे प्रतीक-शैली में लिखी हुई एक रचना उद्धृत कर रहे हैं :

भोर का बावरा अहेरी
पहले बिछाता है आलोक की
लाल-लाल कनियाँ
पर जब खींचता है जाल को
बाँध लेता है सभी को साथ
छोटी-छोटी चिड़ियाँ
मँझोले परेवे
बड़े-बड़े पंखी
डैनों वाले डील वाले
डौल के बेडौल
उड़ने जहाज
कलस-तिसूल वाले मन्दिर-शिखर से ले
तारघर की नाटी-मोटी चिपटी गोल धस्सों वाले

**उपयोग-सुन्दरी**
**बेपनाह् काया को :**

**गोधूलि की धूल को, मोटरों के धुएं को भी,**
**पार्क के किनारे पुष्पिताग्र कर्णिकार की आलोक-रुची तन्वि**
**रूपरेखा को।**
**और दूर कचरा उगलाने वाली कल की उद्दंड चिमनियों को, जो**
**धुआँ यों उगलती हैं मानो उसी मात्र से अहरी को हरा देंगी।**

अतिशय बौद्धिकता के कारण आज के कवियों का प्रतीक-विधान इतना सफल नहीं जितना सन्त और सूफी कवियों का। आज के प्रतीकों का सम्बन्ध स्वप्न-दर्शन अथवा किसी अन्य प्रकार के चिन्तन से रहता है और उनमें प्रयास के लक्षण साफ दिखाई पड़ते हैं, यही उनकी कमी है। उत्कृष्ट प्रतीकात्मकता के लिए एक विशेष प्रकार की मनःस्थिति, एक विशेष प्रकार की अनुभूति तथा उत्कट तन्मयता परम आवश्यक है।

रहस्यवादी ईसाई सन्तों, सूफियों और आधुनिक युग के प्रसिद्ध यूरोपीय प्रतीकवादियों में अपेक्षित तन्मयता और तीव्र अनुभूति विद्यमान रहती है। इसी प्रकार की अनुभूति और मानसिक अवस्था होने पर हिन्दी के आधुनिक कवि भी सफलतापूर्वक प्रतीकवादी काव्य का सृजन कर सकेंगे। प्रतीकवादी कवि दार्शनिक की अपेक्षा द्रष्टा अधिक होता है और उसकी स्वाभाविक प्रेरणा परम सत्य और परम सौन्दर्य के साक्षात्कार से प्राप्त होती है।

*डॉक्टर रामविलास शर्मा*

# मार्क्सवाद और प्राचीन साहित्य का मूल्याङ्कन

समाज को समझने और बदलने तथा शोषणहीन समाज-व्यवस्था का निर्माण करने के विज्ञान का नाम 'मार्क्सवाद' है। यह व्यवस्था हवा में नहीं बनती; प्राचीन व्यवस्था के उपकरणों का महत्त्वपूर्ण योग भी उसमें होता है। इन पुराने उपकरणों को बनाने में विभिन्न वर्गों का योग हो सकता है; यह आवश्यक नहीं कि शोषक-वर्ग ने जिन नैतिक अथवा कलात्मक मूल्यों का निर्माण किया है, वे सभी शोषणमुक्त वर्ग के लिए अनुपयोगी हों। उदाहरण के लिए समाजवादी व्यवस्था में प्रत्येक मनुष्य को अपने श्रम के अनुसार—न कि अपनी आवश्यकता के अनुसार—पारिश्रमिक मिलता है। मार्क्स और लेनिन ने इसे पूँजीवादी नियम बताया है। ऐतिहासिक अनिवार्यता के कारण शोषण-मुक्त मानव भी इस पूँजीवादी नियम से अपना पीछा नहीं छुड़ा पाता। यदि आर्थिक क्षेत्र में पूँजीवादी नियम को तुरत ठुकराया नहीं जा सकता तो साहित्य और कला के क्षेत्र में तो और भी सँभलकर कदम रखना आवश्यक होता है।

प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन में हमें मार्क्सवाद से यह सहायता मिलती है कि हम उसकी विषय-वस्तु और कलात्मक सौन्दर्य को ऐतिहासिक दृष्टि से देखकर उनका उचित मूल्यांकन कर सकते हैं। हम उन तत्त्वों को पहचान सकते हैं जो प्राचीन काल के लिए उपयोगी थे, किन्तु आज उपयोगी नहीं रह गए। हम उन तत्त्वों को परख सकते हैं जो उस प्राचीन युग के लिए भी उपयोगी नहीं थे, या उपयोगी थे तो कुछ सम्पत्तिशाली लोगों के लिए ही थे और जिन्हें उस काल की ऐतिहासिक सीमाएँ देखते हुए भी प्रतिक्रियावादी कहा जायगा। हम विभिन्न मूल्यों के निर्माण में विभिन्न वर्गों की भूमिका देखते हैं, यह देखते हैं कि किसी युग-विशेष में किसी वर्ग-विशेष की भूमिका प्रगतिशील थी या प्रतिक्रियावादी, और उसके अनुरूप उस वर्ग द्वारा निर्मित मूल्य जनता के लिए उपयोगी थे अथवा हानिकर। विभिन्न वर्ग एक ही समाज-व्यवस्था में रहने के कारण एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं; उनकी वर्ग-संस्कृति को परखते हुए इस परस्पर प्रभाव को भी देखना होता है।

मार्क्सवाद के अनुसार समाज तथा संस्कृति का विकास सीधी रेखा पर, समतल भूमि पर, अबाध रूप से एक ही दिशा में नहीं होता। विकास के साथ पीछे हटने का क्रम भी देखा जाता है, सीधी रेखा और समतल भूमि के बदले असंगतियों से होकर, विरोधी तत्त्वों की एकता की विषम भूमि पर भी यह विकास होता है। उदाहरण के लिए मनुष्य ने जब वन्य-जीवन छोड़कर नागरिक जीवन बिताना आरम्भ किया तब अनेक नये मूल्यों की प्राप्ति के साथ उसने अनेक महत्त्वपूर्ण पुराने मूल्यों को भी छोड़ दिया। इस सत्य को एंगेल्स ने

'व्यक्तिगत सम्पत्ति और राज्य-सत्ता की उत्पत्ति' नाम की पुस्तक में स्पष्ट कर दिया है। मार्क्स और एंगेल्स साहित्य के उत्कट प्रेमी थे। शेक्सपियर और बाल्ज़ाक की रचनाओं से उन्हें विशेष रुचि थी। बाल्ज़ाक अपनी विचार-धारा में प्रतिक्रियावादी था, फिर भी १९वीं सदी के पूर्वार्द्ध में वह यूरोप का सबसे बड़ा उपन्यासकार था। उसने शासक-वर्ग और सम्पत्ति-शाली जनों का व्यंग्यपूर्ण चित्रण किया और वह विषय-वस्तु दी जो उसकी विचार-धारा के विरुद्ध पड़ती थी। इस तरह मार्क्स ने साहित्यकारों के अन्तर्विरोधों को समझना सिखलाया। उसी पद्धति से लेनिन ने तोल्स्तोय के विचारों को निष्क्रियता और अन्धविश्वासों को प्रश्रय देने वाला कहते हुए उनके साहित्य को प्राचीन न्याय-व्यवस्था और अनेक रूढ़ियों की सबसे तीखी आलोचना बतलाया।

साहित्य बुद्धिविरोधी सृष्टि नहीं है किन्तु उसका सम्बन्ध बुद्धि से ही नहीं है। वह मनुष्य के सचेत चिन्तन का ही परिणाम नहीं है; उसका गहरा सम्बन्ध मनुष्य के उपचेतन संस्कारों से भी होता है। व्यवहार-क्षेत्र में मार्क्सवाद संस्कारों पर बहुत अधिक बल देता है। जो अभिजात-वर्ग में उत्पन्न हुए हैं और उस वर्ग के संस्कारों में पले हैं, उनके लिए मार्क्स-वाद की बौद्धिक स्वीकृति काफ़ी नहीं है, उन्हें अपने को आमूल परिवर्तित करना आवश्यक होता है जो एक अत्यन्त कठिन क्रिया है। मार्क्सवादी राजनीतिज्ञों के लेखों में इसी कारण जनता से एकात्म होने, सर्वहारा दर्शन के साथ सर्वहारा मनोबल को अपनाने पर जोर दिया जाता है। मनुष्य के ये संस्कार सदा उसके सचेत चिन्तक से टकरायें, यह आवश्यक नहीं। दोनों में अन्तर्विरोध के बदले परस्पर सहयोग भी हो सकता है। साथ ही दोनों में टक्कर होने पर यह आवश्यक हो जाता है कि लेखक के स्वीकृत विचारों को ही न परखकर हम उसके संस्कार के आधारों पर निर्मित साहित्य का मूल्यांकन भी करें।

इस प्रकार समाज और साहित्य का सम्बन्ध, वर्गों और संस्कृति का सम्बन्ध, प्राचीन मूल्यों और नये मूल्यों का सम्बन्ध सीधा और सरल न होकर संश्लिष्ट और पेचीदा होता है। इस सत्य के विपरीत मार्क्सवाद के सम्बन्ध में आम धारणा यह है : प्राचीन साहित्य शोषक वर्गों के हित में उनके चक्करों द्वारा रचा हुआ है, इसलिए त्याज्य है; साहित्य समाज का दर्पण है, इसलिए पुरानी व्यवस्था बदल जाने पर वह दर्पण भी बेकार हो जायगा; सर्वहारा वर्ग के लेखक नया साहित्य रचेंगे जिसमें पुराने मूल्यों का अभाव होगा; इन लेखकों की दृष्टि में यह साहित्य कलात्मक सौन्दर्य में भी प्राचीन साहित्य से आगे होगा।

इस तरह की धारणा मार्क्सवाद से अनभिज्ञ कुछ साधारण साहित्य-प्रेमियों ही में नहीं मिलती, उसके दर्शन मार्क्सवाद के अनेक पण्डितों में भी होते हैं। इनकी आलोचना-शैली की एक विशेषता है। वे किसी विशेष विचार-धारा के समर्थन या विरोध में बहुत-से उद्धरण बटोर लेंगे; फिर उनके आधार पर वे किसी साहित्यकार को प्रगतिशील या प्रतिक्रिया-वादी करार देंगे। उदाहरण के लिए महाकवि सुमित्रानन्दन पंत ने सन् १९३८ के लगभग छायावाद के आकाश से प्रगतिवाद की धरती पर उतरने की घोषणा की। यद्यपि वह स्वयं मार्क्सवाद और गांधीवाद के समन्वय की बात करते थे, फिर भी उनके समर्थकों ने उन्हें मार्क्सवादी लेखक के रूप में ही पेश किया। इसके सिवा मार्क्सवादी या समन्वयवादी होने के साथ पन्तजी कवि भी बने हुए हैं कि नहीं, इसकी ओर 'पन्त प्रगति के पथ पर' के लेखकों ने

ध्यान नहीं दिया। कविता न तो विचार-शून्य होती है, न वह विचार-धारा-मात्र होती है। विचार में भाव के पंख लगने चाहिएँ और भावों के साथ इन्द्रिय-बोध की तरलता होनी चाहिए। भाव-विह्वलता और इन्द्रिय-बोध के परिष्कार के बिना कविता क्या ? इनके अभाव में हमारे मित्रों ने पन्तजी की विचार-धारा से—जो अपने में बहुत उलझी हुई भी थी—उद्धरण देकर उन्हें प्रगतिपथगामी सिद्ध कर दिया। छायावाद की उपलब्धियाँ उनके लिए नगण्य थीं, इसलिए कि पन्तजी की-सी विचार-धारा का उनमें अभाव था। छायावाद ने 'कामायनी', 'राम की शक्ति-पूजा', 'तुलसीदास', 'गीतिका', 'दीपशिखा', 'पल्लव'—हाँ, 'पल्लव' भी—के रूप में भारतीय जनता के भावों, विचारों और सौन्दर्य-बोध को कितना परिष्कृत किया है, इसका लेखा जोखा इन मित्रों के यहाँ नहीं था। प्रगतिवाद का शिलान्यास करते हुए भी शिवदानसिंह चौहान ने इस सम्बन्ध में जो लिखा था, उससे इस विकृत दृष्टिकोण को समझने में सहायता मिलती है। उन्होंने 'विशाल भारत' में लिखा था : "इस छायावाद की धारा ने हिन्दी के साहित्य को जितना धक्का पहुँचाया है, उतना शायद ही हिन्दू महासभा या मुस्लिम लीग ने पहुँचाया हो।" इस तरह के—या सारतत्त्व यही किन्तु कोमल शैली में लिखे हुए—वाक्य पढ़कर यदि पाठक यह धारणा बनायें कि मार्क्सवाद हमारी संस्कृति का शत्रु है तो इसमें आश्चर्य क्या ?

वर्ग और सम्पत्ति से संस्कृति का सम्बन्ध जोड़ने के अनूठे उदाहरण हमे महापण्डित राहुल सांकृत्यायन की रचनाओं में मिलते हैं। उन्हें वेदों में ओजपूर्ण काव्य नहीं मिलता, उन्हें वहाँ वर्णाश्रम-धर्म की प्रतिष्ठा, आर्य-अनार्य रक्त का संमिश्रण और समाज की सम्पदा उड़ाने वाले ऋषि मिलते हैं। राहुल जी वैदिक ऋषियों का उल्लेख सम्मान के साथ तभी करते हैं, जब उन्हें निषिद्ध मांस-भक्षण का समर्थन करना होता है। इस आवश्यकता के न होने पर उनकी शैली कुछ इस प्रकार की होती है - "जिन ग्रन्थों में अछूतपन की बात भरी पड़ी हैं और जिन ऋषि-मुनियो ने अपने आश्रमों के आस-पास मनुष्य नामधारी दास-दासियों के ऊपर सहस्राब्दियों तक अमानुषिक अत्याचार होते देखकर भी अपनी तपस्या भंग न की, उनके ग्रन्थ अछूतोद्धार के बाधक छोड़ साधक कैसे हो सकते हैं ?" ('दिमागी गुलामी', पृ० १५)

वेदों तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों में वर्ण व्यवस्था की प्रतिष्ठा किस सीमा तक है, उस युग में इस तरह की व्यवस्था आवश्यक थी या अनावश्यक, वर्ण-व्यवस्था के अलावा उनमें और कौन-सी मूल्यवान सामग्री है, राहुल जी इसका विश्लेषण आवश्यक नहीं समझते। वाल्मीकि और कालिदास भी राजाओं की प्रशस्तियाँ गाने वाले कवि थे। एक ही ढेले से दोनों महाकवियों का शिकार करते हुए महापण्डित ने 'सुपर्णयौधेय' में लिखा है : "**कोई ताज्जुब नहीं, यदि वाल्मीकि शुंगवंश के आश्रित कवि रहे हों, जैसे कालिदास चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के। और शुंगवंश की राजधानी की महिमा बढ़ाने ही के लिए उन्होंने जातकों के दशरथ की राजधानी वाराणसी से बदलकर साकेत या अयोध्या कर दी और राम के रूप में शुंग सम्राट् पुष्यमित्र या अग्निमित्र की प्रशंसा की वैसे ही जैसे कालिदास ने 'रघुवंश' के रघु और 'कुमार सम्भव' के कुमार के नाम से पिता-पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और कुमार गुप्त की।**"

इस न्याय से कोई ताज्जुब नहीं, शेक्सपियर ने बादशाह जेम्स की प्रशस्ति के लिए

'हैमलेट' की रचना की हो। आप कहें कि हैमलेट अन्त में मर गया था तो समझ लीजिए टेम्पेस्ट की रचना की थी। और अपनी नायिकाओं के रूप में—लेडी मैकबेथ को छोड़कर उसने मलिका-मुवज़्ज़मा एलीजाबेथ का चित्रण किया होगा!

इसी न्याय से तुलसीदास का भाग्य-निर्णय करते हुए श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त ने किसी समय लिखा था : "**हम देखेंगे कि वाल्मीकि, कालिदास और तुलसी ने रघु-कुल की प्रशस्तियाँ गाईं और राज्य-सत्ता को भारी सहारा दिया।**" तुलसी के साथ सूर को भी जोड़कर उन्होंने चुने हुए उपनामों से अपने वाक्य का कलात्मक सौन्दर्य बढ़ाते हुए अन्यत्र लिखा था : "**हम तुलसी और सूर के सामाजिक विचार-दर्शन (विचार-दर्शन का जो भी अर्थ हो!) को आज नहीं अपना सकते; उसे इतिहास ने 'मैमथ' और 'डोडो' के समान अजायबघर की वस्तु बना दिया है। किन्तु जनता के प्रति उनका प्रेम, उससे निकटतम उनका सम्बन्ध उनके काव्य का जन-सुलभ रूप आदि अनेक तत्त्व हमारे लिए आज भी अमूल्य हैं।**" यह भी गनीमत है कि सूर-तुलसी में कम-से-कम जनता से प्रेम का अमूल्य तत्त्व गुप्त जी को मिला। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपनी धारणाओं को काफी बदला है, यह उल्लेखनीय है।

किन्तु अन्य 'मार्क्सवादी' लेखकों को तुलसीदास में जनता से प्रेम की जगह सवर्ण हिन्दुओं से प्रेम और सवर्ण हिन्दुओं में भी ब्राह्मणों से विशेष प्रेम दिखाई देता है। यशपाल जी ने मार्क्सवाद पर पुस्तक लिखी है और हाल में तुलसी-जयन्ती के अवसर पर तुलसीदास की विचार-धारा का विश्लेषण भी किया है। कबीर से तुलसी की भिन्नता दिखलाते हुए उन्होंने लिखा है : "**तुलसी का भक्ति-मार्ग केवल सवर्ण हिन्दू जनता की सांस्कृतिक एकता का प्रतिपादन करता था।**"[1]

'रामचरित मानस' का मूल तत्त्व क्या है? यशपाल जी का कहना है : "**वर्ण-व्यवस्था के समर्थन, ब्राह्मण की श्रेष्ठता और स्वामी-वर्ग के अधिकारों के समर्थन को जो स्थान 'रामचरित मानस' में दिया गया है, वही उसका मुख्य अंग है।**" इस तरह की गम्भीर व्याख्या यशपालजी से पहले डॉ० रांगेय राघव कर चुके थे। स्वामी-वर्ग के अधिकारों के समर्थन की बात उन्होंने अपनी ओजपूर्ण शैली में यों कही थी : "**तत्कालीन उच्च वर्ग ने प्रारम्भ में जो तुलसी का विरोध किया, वह गलती उन्होंने जल्दी महसूस की। राम-नाम के प्रताप से जूठन बीनकर खाने वाला तुलसीदास, अपने जीवन-काल में ही उन्हीं उच्च वर्गों के कन्धों पर डोलने लगा, हाथी पर चढ़ने लगा।**"[2]

अब कठिनाई यह है कि उस समय तो तुलसी उच्च-वर्गों के कन्धों पर डोलने लगा, लेकिन आज वह भारतीय जनता—विशेषकर हिन्दी-भाषी जनता—के हृदय पर आसन जमाये हुए है। उसे हटाये बिना हमारे मित्र जो नया साहित्य रच रहे हैं, उसकी प्रतिष्ठा कैसे हो? खोट दरअसल जनता में है, इसीलिए तुलसी को जनता के हृदय-सिंहासन से हटाने के लिए हमारे मित्र भगीरथ प्रयत्न कर रहे हैं। इस जनता का पहला कसूर यह है : "**देश की सर्व-साधारण जनता ने 'रामचरित मानस' को काव्य की अपेक्षा शास्त्र के रूप में अधिक मान्यता दी है।**" और आलोचक क्या करते हैं? वे भी 'रामचरितमानस' को

---

१. **'नया पथ', १८५७ के स्वातन्त्र्य-संग्राम की पुण्य स्मृति में, जुलाई-अगस्त १९५७।**

२. **'आलोचना', ५।**

शास्त्र समझकर उससे अनेक दोहे-चौपाइयाँ उद्धृत करके उसे ब्राह्मण-धर्म का समर्थक-शास्त्र सिद्ध करते हैं। क्या करें? मजबूर हैं बेचारे! उनके मन में अनेक प्रश्न उठते हैं; उठते ही नहीं हैं, **"हमारे मन और मस्तिष्क में उपस्थित प्रश्न सिर उठाए बिना नहीं रह सकते।"** अतः 'रामचरितमानस' को शास्त्र मानकर उन्हें उसका विवेचन करना ही पड़ता है यद्यपि इसकी ज़िम्मेदारी आलोचकों पर नहीं, जनता पर है। जनता भी क्या करे? इतिहास ने उसे अशिक्षित और अन्ध-विश्वासी बना दिया है। ऐतिहासिक प्रक्रिया पर ध्यान लगाकर यशपालजी कहते हैं: **"रामचरित मानस एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के कारण शिक्षा की प्रगति से विहीन सर्वसाधारण की एक-मात्र कला-निधि और नैतिक शास्त्र बन गया।"** यह कलानिधि भी सवर्ण हिन्दुओं के पल्ले ही पड़ी; 'सर्वसाधारण' के 'सर्व' में असवर्ण हिन्दुओं—मुसलमानों की तो बात ही क्या?—का कोई हिस्सा नहीं है।

इस ऐतिहासिक प्रक्रिया के कारण जनता को क्षमा कर देना चाहिए। (यद्यपि 'शिक्षा की प्रगति से विहीन' जनता ने ही १८५७ का स्वातन्त्र्य-संग्राम रचा था जिसकी स्मृति में 'नया पथ' का यह अंक समर्पित है, या सम्भव है, तब जनता कुछ समय के लिए तुलसी के नीति-शास्त्र से मुक्त हो गई हो!)। इस प्रक्रिया के साथ, जनता को शोषकों का दास बनाये रखने में, तुलसीदास की कला किस प्रकार सहायक हुई, इस पर ध्यान दे कर जनता को पुनः क्षमा कर देना चाहिए। आधुनिक आलोचना में यशपालजी का यह वाक्य स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य है: **"यहाँ हमें तुलसी के कलात्मक सामर्थ्य को स्वीकार करना पड़ता है कि 'रामचरित मानस' आज भी जनता की बहुत बड़ी संख्या को अधिकार-वंचित करके भी उन्हें सीता की तरह लक्ष्मण की लकीर से बाँधे है कि मानस की सीमाओं से परे सम्पूर्ण ज्ञान रावण का प्रभाव है।"**

सीता को लक्ष्मण की खींची लकीर से बाहर निकालने में यशपालजी अकेले नहीं हैं। उनके साथ कषायचीवरधारी मृग मारीच, भदन्त आनन्द कौसल्यायन भी हैं। भदन्तजी मार्क्सवादी नहीं बौद्ध भिक्षु हैं, किन्तु ऊपर कही हुई संस्कारों की बात याद कीजिए। अपने उपचेतन संस्कारों के बल पर वे सहज प्रगतिशील हैं और 'रामचरित मानस' का विश्लेषण करते हुए उसी भूमि पर पहुँचे हैं जहाँ यशपालजी अपने सचेत चिन्तन से डटे हैं। उन्होंने तुलसीदास को ब्राह्मणवाद का समर्थक सिद्ध करने के लिए 'नया पथ' में कुछ समय पूर्व 'रामचरित-मानस' से अनुकूल पंक्तियों का एक संकलन प्रकाशित किया था। इस उद्धरणमाला से जो निष्कर्ष निकला, वह यह कि तुलसीदास के इस ग्रन्थ में राम से अधिक ब्राह्मणों का महत्त्व घोषित किया गया है! यशपालजी भदन्तजी के सहज ज्ञान का हवाला देते हुए कहते हैं: **"भदन्त आनन्द कौसल्यायन का यह कहना कि 'रामचरित मानस' में राम की अपेक्षा ब्राह्मण का ही महत्त्व अधिक है, न अत्युक्ति है, न अतिरंजना।"** इसका कारण यह भी है कि विपक्ष में जो उद्धरण दिये गए हैं, उनकी तुलना मे भदन्तजी के उद्धरण **"संख्या में कहीं अधिक सुस्पष्ट सन्दर्भ के अनुकूल और निर्विवाद हैं।"** ऐसा लगता है कि उद्धरणों की संख्या देखकर यशपालजी इतने प्रभावित हुए हैं कि उन्होंने 'रामचरितमानस' पढ़ना भी आवश्यक नहीं समझा। कथा में उल्लिखित किसी भी परिस्थिति और किसी भी पात्र का विश्लेषण उन्होंने नहीं किया। 'रामचरित मानस' को शास्त्र समझकर भदन्तजी द्वारा बटोरे हुए

उद्धरणों से ही उन्होंने सन्तोष कर लिया है।

एक चरित्र और एक घटना का हवाला यशपालजी ने अवश्य दिया है। वह चरित्र है शंबूक का, और घटना है राम द्वारा उसके बध की। मेरे एक निबन्ध में यह पढ़कर कि तुलसीदास की भक्ति वर्ण, जाति, धर्म आदि के कारण किसी का बहिष्कार नहीं करती, यशपालजी ने किंचित् रोष के साथ लिखा है, "**ऐसी अनर्गल बात कहते समय वे राम द्वारा मुक्तिकामी शंबूक के बध की बात भूल गए।**" शंबूक की घटना उन्हें विशेष प्रिय है; इससे अधिक तुलसी के अन्धे ब्राह्मण-प्रेम का उदाहरण और क्या होगा ? इसलिए तुलसी के साथ उनके अकिंचन भक्त का भी उद्धार करते हुए उन्होंने पुनः लिखा, "**वे यह भूल गए कि तुलसी के मत में शूद्र का वेद पढ़ने और ब्राह्मण से समता करने की इच्छा और नारी की स्वतन्त्रता पाप और कलयुग के प्रभाव का मुख्य लक्षण था, जिसके निवारण के लिए भगवान् को खड्ग हाथ में लेना पड़ा था।**" नारी की स्वतन्त्रता के सिलसिले में यशपालजी को यह और जोड़ देना चाहिए था कि धोबी की बात सुनकर राम ने पराधीन सीता को बनवास दे दिया था। या शायद धोबी की बात सुनकर सीता को निकालना राम का प्रगतिशील कार्य ठहरता, इसलिए यशपालजी ने उसका हवाला नहीं दिया।

किसी की रचना पढ़े बिना, सुनी-सुनाई बातों के आधार पर या कल्पना के बल पर आलोचना लिख देना कोई अद्भुत काम नहीं है किन्तु 'नया पथ'-जैसे पत्र के 'सम्पादकीय' स्तम्भ में 'ऐतिहासिक दृष्टि से तुलसी का मूल्याङ्कन' के नाम पर उपर्युक्त कोटि के तर्क अवश्य अद्भुत हैं। यह बात नहीं है कि यशपालजी तुलसी का महत्त्व अस्वीकार करते हों। उनकी दृष्टि में विश्व-साहित्य के सौर-जगत् में तुलसी एक विराट् नक्षत्र हैं। उनके चिरन्तन मूल्य कला-पक्ष की रसानुभूतियों में हैं। रस भी देखिये कितने हैं : "**शैशव**, वात्सल्य, सहज-शृंगार, प्रेम, शोक, सहानुभूति, रौद्र आदि रसों का जैसा परिपाक उन्होंने किया है, वह अपने में अनूठा है।" शैशव-रस के परिपाक पर यशपालजी कुछ विस्तार से प्रकाश डालते तो साहित्य-शास्त्र और समृद्ध होता। परिपाक से निकलने वाले मूल्य तो चिरन्तन हुए; कुछ अचिरन्तन मूल्य नैतिक भी हैं। तुलसी ने सवर्ण हिन्दुओं की एकता के लिए जो प्रयत्न किया उसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। वह काम भी महत्त्वपूर्ण था। यशपालजी का कहना है कि "**उन्होंने राम-भक्ति द्वारा हिन्दू-संस्कृति की बहु-देव-पूजा का समुच्चय कर हिन्दू जातीय एकता द्वारा और वेद-विहित वर्णाश्रम धर्म की संस्कृति की रक्षा में सहायता कर बहुत बड़ा काम किया।**" यह दूसरी बात है कि इस हिन्दू जातीय एकता से, यशपालजी के ही अनुसार अछूत-जन बाहर-बाहर रखे गए थे। दूसरा काम उन्होंने यह किया कि "**उनके भक्ति-मार्ग ने हिन्दू सामन्तशाही को मुस्लिम सामन्तशाही से लोहा लेने में सहायता दी।**" ऐतिहासिक दृष्टि से तुलसी का मूल्याङ्कन करने पर तीन तथ्य निकले; तुलसीदास ने 'रामचरित मानस' लिखकर वर्ण-व्यवस्था को दृढ़ किया, इस्लाम से हिन्दू धर्म की रक्षा की और कला पक्ष में शैशव-सहानुभूति आदि रसों का परिपाक किया। इनमें से पहले दो तथ्यों को रूढ़िवादी आलोचक ऐतिहासिक दृष्टि के बिना भी बहुत दिनों से मान रहे थे; यशपालजी ने इज़ाफ़ा किया है रस-परिपाक के मौलिक चिन्तन से।

तुलसीदास की विचार-धारा को समझने के लिए 'रामचरित मानस' के साथ उनके

अन्य ग्रन्थों का भी तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिए। 'रामचरित मानस' में वर्णाश्रम-धर्म अन्य किसी प्रश्न पर उद्धरण एकत्र करने के साथ मूल कथा की परिस्थितियों और पात्रों का भी अध्ययन करना चाहिए। 'रामचरित मानस' बहुत ही लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है, इसलिए उसमें प्रक्षिप्त अंशों की सम्भावना मानकर सतर्क रहना चाहिए। यदि तुलसीदास वर्ण-व्यवस्था के ऐसे प्रबल पक्षपाती थे तो वे "**ब्याह न बरेखो जाति पाँति न चहत हौं**" कहकर अपनी सफ़ाई क्यों देते हैं? निश्चय ही उनकी जाति और जन्म को लेकर विप्र-वर्ग उन्हें छेड़ता था जिससे क्षुब्ध होकर उन्हें "**धूत कहौ अवधूत कहौ, राजपूत कहौ, जुलहा कहौ कोऊ**" आदि छन्द लिखना पड़ा था। यदि वे हिन्दू सामन्त-वर्ग के ऐसे कृपाभाजन थे तो उन्होंने यह क्यों लिखा था : "**माँगि कै खैबो मसीत को सोइबो लेबे को एक न देबे को दोऊ**" मस्जिद में सोकर तुलसीदास मुस्लिम सामन्तशाही के विरुद्ध हिन्दू सामन्तशाही को कैसे दृढ़ कर रहे थे? उनके राम यदि ब्राह्मणों के लिए सुरक्षित थे तो वह शबरी के जूठे बेर क्यों खाते थे, निषाद को क्यों गले लगाते थे, उसे भरत के समान क्यों कहते थे, वानरों को अपना सखा क्यों मानते थे? यही नहीं राम ने अजामिल-जैसे अधमों को भी तार दिया था जिस पर तुलसीदास ने व्यंग्य करते हुए कहा था : "**कौन धौं सोमजागी अजामिल अधम कौन गजराज धौं बाजपेई।**" यदि तुलसीदास स्त्रियों को अपावन समझते थे तो जनकपुर में, अयोध्या में, वन में, सब कहीं राम के सबसे निकट इस नारी-समुदाय को क्यों दिखलाते हैं? राम को देखने के लिए स्त्रियाँ आती हैं, यह उनकी स्वाधीनता की पराकाष्ठा नहीं है किन्तु इससे उनके प्रेम की उत्कटता, जो सामाजिक नियमों की अवहेलना भी कर देती है, और उनके प्रति तुलसी की सहानुभूति अवश्य प्रकट होती है। यशपालजी इस विषय में कहते हैं : "**ऐसी अवस्था में हम इस देश के ग्राम-ग्राम की दीन-से-दीन स्त्रियों को भी भालू और बन्दर का नाच देखने के लिए भी अपने द्वार पर आ जाता देखकर क्यों न समझ लें कि अब इस देश में नारी-स्वतन्त्रता के आन्दोलन की आवश्यकता नहीं रही।**"

तुलसी की नैतिकता को गई-गुजरी बताने वाले यशपालजी स्वयं किस नैतिकता के स्तर पर आलोचना लिखते हैं; उपर्युक्त उद्धरण उसकी ओर संकेत करता है। विश्व-साहित्य के सौर-जगत् में तुलसी विराट् नक्षत्र हैं, यह शब्दावली दिखाने के लिए है। वास्तविक भावना यह है कि ग्रामवधुओं का राम को देखने आना भालू और बन्दर का नाच देखने के समान है। यह सब ऐतिहासिक दृष्टि के नाम पर!

तुलसी को हम यदि मानवतावादी कहें, उन्हें आज भी अपने सांस्कृतिक विकास के लिए आवश्यक मानें, उन्हें अपने लिए प्रेरणादायक कहें तो हमारे मित्र क्रुद्ध होकर कहते हैं, यह तुलसीदास को आज के दृष्टिकोण से प्रगतिवादी सिद्ध करना है। इस तरह का आरोप करने वाले मित्र यह भी सिद्ध कर देते हैं कि उन्हें आज के प्रगतिशील लेखकों के कर्तव्यों की जानकारी नहीं है। आज के लेखक से हम आशा करते हैं कि वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाये और समाज को बदलने के लिए जनता के क्रान्तिकारी संगठन के लिए प्रेरणा दे। सामाजिक उत्तरदायित्व को ध्यान में रखने वाले आज के प्रबुद्ध लेखक का यह भी कर्तव्य होता है यद्यपि उसका कर्तव्य यहीं तक सीमित नहीं होता। कारण यह कि साहित्यकार समाज को बदलने के लिए प्रेरणा देने के अलावा हमारे संस्कारों का परिष्कार भी करता है, भाव-धारा और इन्द्रिय-

बोध को निखारने के साथ हमारी रस-वृत्ति को भी तुष्ट करता है। तुलसी का सामाजिक दृष्टिकोण ऐसा था या होना चाहिए था कि वे समाज से वर्ग-शोषण मिटाकर साम्यवादी समाज की स्थापना के लिए प्रेरणा देते, यह दावा कोई नहीं करता। यह दावा अवश्य है कि तुलसीदास सामन्त-वर्ग के चाकर नहीं थे, उन्हें धनी वर्ग ने हाथी पर नहीं चढ़ाया, उनकी भक्ति विप्र-वर्ग के लिए ही नहीं थी, उनके दीनदयाल सभी वर्णों के दीनों के लिए दयालु थे, तुलसी ने अपने राम में भारतीय जनता के धैर्य, शूरता, सहानुभूति, सात्विक क्रोध आदि गुणों का चित्रण किया है, इन्होंने 'रामचरित मानस' तथा 'कवितावली' में ग्रामीण जीवन और लोक-संस्कृति के अनुपम चित्र दिये हैं, तुलसीदास मानवीय करुणा और सहानुभूति के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं, उन्होंने नारी को 'देश-द्रोही' या 'मनुष्य के रूप' की नायिकाओं के रूप में नहीं देखा, किन्तु उसकी पराधीनता के प्रति वे अचेत नहीं हैं और उसके भाग्य से उन्हें गहरी सहानुभूति है, वह सामन्ती समाज में जनता का उत्पीड़न देख चुके थे, स्वयं सह चुके थे, उनके आत्म-निवेदन की करुणा का स्रोत यही सामाजिक उत्पीड़न है, इसलिए वह जनता के दुख-दर्द के भागीदार हैं, तभी मध्यकालीन निष्क्रियता में उन्होंने धनुर्धारी राम से रावण का नाश कराकर हमें अन्याय का सक्रिय प्रतिरोध करना सिखाया—इन मानवतावादी मूल्यों का दावा हम तुलसीदास में अवश्य करते हैं। यशपालजी को वास्तविक क्षोभ तुलसीदास को समाजवादी सिद्ध करने पर नहीं है, उन्हें क्षोभ है तुलसीदास को मानवीय करुणा और मानवीय सहानुभूति का कवि सिद्ध करने पर। इसीलिए उन्होंने लिखा है : "**यह कहना भी ठीक नहीं है कि तुलसी भक्ति-मार्ग के कवि होने के कारण अपनी सामयिक ऐतिहासिक परिस्थितियों में मानववादी और प्रगतिवादी थे।**" असली बात यह है कि उस समय की परिस्थितियों में भी यशपालजी तुलसी को मानवतावादी नहीं मानते। इसीलिए इन्हें रूढ़ियों और अत्याचार के विरुद्ध "**मानव-मात्र की समता की पुकार जिसे रामानुज, कबीर, नामदेव और नानक ने उठाया वह 'रामचरित मानस' में दिखाई नहीं पड़ती।**" यही नहीं, तुलसीदास अपने समय के मानववाद के विरोधी भी थे, क्योंकि यशपालजी के अनुसार "**रामचरित मानस में मानवता की उस पुकार को कलियुग का पाप और प्रभाव कहकर उसके विरोध के लिए भगवान् की अवतारणा बताई गई है।**" इसलिए तुलसीदास में, मध्यकालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, मानवतावाद खोजना "**अपने जन्म-जात जातिगत अधिकारों और प्रतिष्ठा का लोभ और अन्ध-अभिमान ही समझा जा सकता है**", इसलिए तुलसीदास की नैतिकता "**जन्म से जातिगत मिथ्या अहंकार की प्रेरणा अवश्य देती है जो शर्मा-वर्ग को सन्तोष दे सकते हैं।**" तुलसीदास के मानववाद और उनकी नैतिकता से यशपालजी को इतनी चिढ़ है कि वह उसके समर्थन को एक साधारण साहित्यिक कार्य मान ही नहीं सकते, उसमें उन्हें जातिगत अधिकार, प्रतिष्ठा का लोभ, मिथ्या अहंकार सब-कुछ दिखाई देता है। जब तुलसीदास ही मानववाद के विरोधी हैं, तब उनके भक्त प्रतिष्ठा-लोलुप और अहंकारी हों तो आश्चर्य क्या! इस तरह के कृपा-कटाक्ष यशपालजी की ऐतिहासिक दृष्टि की विशेषता हैं।

तुलसी की नैतिकता का सही मूल्याङ्कन तभी सम्भव है जब हमारी आज की अपनी नैतिकता दुरुस्त हो। यशपालजी तुलसी की रूढ़िवादी नैतिकता के बदले किस नैतिकता की स्थापना करना चाहते हैं? नारी की स्वाधीनता के बारे में वह लेनिन का हवाला देकर

लेखते हैं, "**स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध शरीर की दूसरी आवश्यकताओं भूख, प्यास, नींद की तरह ही आवश्यक है। इसमें मनुष्य को स्वतन्त्रता होनी चाहिए परन्तु प्यास लगने पर शहर की गन्दी नाली में मुँह डालकर पानी पीना उचित नहीं। उचित है, स्वच्छ गिलास में स्वच्छ जल पीना।**" यशपालजी ने स्वच्छ जल पीने का सिद्धान्त लेनिन में वैसे ही ढूँढ़ निकाला है जैसे 'रामचरित मानस' में शंबूक-वध ढूँढ़ निकाला था। लेनिन ने क्लारा जेटकिन से अपनी बातचीत में इस स्वच्छ जल के सिद्धान्त को 'पूँजीवादी चकलों का प्रसार' कहा था। उनका विचार था कि "**यह पानी के गिलास का सिद्धान्त पूरी तरह गैर मार्क्सवादी है और इसके अलावा समाज-विरोधी भी है।**" इसे समाज-विरोधी कहने का कारण, लेनिन के अनुसार, यह था : "**पानी पीना बेशक किसी का निजी काम है। लेकिन प्रेम में दो जिन्दगियों का सम्बन्ध होता है और एक तीसरी नई जिन्दगी पैदा होती है। इससे उनमें सामाजिकता का सवाल उठता है जिससे समाज के प्रति कर्तव्य पैदा होता है। एक कम्युनिस्ट की हैसियत से मुझे पानी के गिलास के सिद्धान्त से ज़रा भी सहानुभूति नहीं है यद्यपि उस पर प्रेम की तृप्ति का सुन्दर लेबिल लगा हुआ है। कुछ भी हो, पर प्रेम की मुक्ति न तो नई है, न कम्युनिस्ट है।**"

इससे स्पष्ट है कि यशपालजी की ऐतिहासिक दृष्टि पर मार्क्सवाद का लेबिल तो लगा हुआ है, किन्तु उसका मार्क्सवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है। यशपालजी के 'चक्कर क्लब' का एक-मात्र कहना है : "**किसी की तृप्ति कवि रवीन्द्र की कविता में कामिनी को समीप बैठाकर' हो जाती है तो किसी की साहित्यिक तृप्ति अंगिया दबाने की चर्चा किये बिना नहीं होती क्यों जी, सिर खुजाते हुए कामरेड की ओर देख उन्होंने पूछा—'क्या है वह गीत, न ताको जोबन सरकारी है, बचके रहो जी'।**" नैतिकता के इस निम्न स्तर पर जीने वाले कलाकार तुलसी की नैतिकता से असन्तुष्ट न हों, तभी आश्चर्य होगा। अपनी रक्षा के लिए उन्होंने मार्क्सवाद का दुपट्टा जरूर गले में डाल लिया है। 'पार्टी कामरेड' की हीरोइन का नख-शिख वर्णन करते हुए यशपाल जी कहते हैं : "**माथे पर त्यौरी चढ़ा देखती तो ऐसा लगता नजर सीने में गड़ा देगी।**" 'रामचरितमानस' की आलोचना में अछूतों के प्रति अपार सहानुभूति प्रकट करने के बाद यशपालजी को इतना अवकाश नहीं मिला कि अपने किसी उपन्यास में वे प्रेमचन्द की 'कर्मभूमि' की तरह अछूतों का चित्रण करते। अछूतोद्धार की सारी मांगें तुलसीदास से ही हैं। 'मनुष्य के रूप' में मनोरमा अपने पति को तलाक देकर कम्युनिस्ट पार्टी के दफ्तर में आती है, तब "**बहुत से कामरेड अपनी-अपनी जगह छोड़ संकोच से सिमटी जाती मनोरमा को घेरकर खड़े हो गए। उमेश ने गर्दन ऊँची कर बहुत जोर से पुकारकर कहा—'तो फिर अब!' और प्रोत्साहन की मुद्रा से हृदय पर हाथ रख लिया। यारों ने उमेश को कंधे से धक्के देकर फटकारा—हट पागल! मंगल बोला—आखिर कोई तो आशा कर सकता है!......न्यू बस हैज़ कम (नई गाड़ी चल रही है।)**" यशपाल जी की रचनाओं से इस रस विशेष के उद्धरण एकत्र किए जायँ तो वे भदन्तजी की 'उद्धरण-माला' से भी संख्या में अधिक, सुस्पष्ट, सन्दर्भ के अनुकूल और निर्विवाद हों। बानगी के लिए यहाँ इतने काफी हैं।

इससे उपर कही हुई बात का समर्थन होता है। मार्क्सवाद किताबें पढ़ने से ही नहीं

आता, किताबें भी न पढ़कर सुनी-सुनाई बातों के आधार पर लेलिन में स्वच्छ जल पीने का सिद्धान्त ढूँढ़ लेने से तो और भी नहीं आता। यशपालजी के अपने संस्कार इतने प्रबल हैं कि जो है, वह ओझल हो जाता है और जो नहीं है, वह दिखाई देने लगता है। प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन करने के लिए पहले अपनी नैतिकता का मूल्यांकन, अपने दृष्टिकोण की परख आवश्यक है। मार्क्सवाद मानवता के कल्याण का दर्शन है। वह संस्कृति के मूल्यवान तत्वों का नाश नहीं करता, उन्हें सँजोकर रखता है। आज के पीड़ित जन यदि नये शोषण-हीन समाज का स्वप्न देखते हैं, उसके लिए संघर्ष करते हैं, तो वह इसीलिए कि पुराने मानवतावादियों ने उन्हें इस मंजिल तक पहुँचा दिया है जहाँ से वे अगली मंजिल का सपना देखें। शोषणहीन समाज की स्थापना करने वाला मानववाद पुराने मानववाद से विच्छिन्न नहीं है, वह उसीकी अगली कड़ी है। इसलिए उन पुराने मानववादियों का मूल्याङ्कन थोड़ी नम्रता के साथ करना चाहिए। जब हम उस मानववाद को आगे न बढ़ा रहे हों वरन् अपने संस्कारों के कारण अनैतिक उच्छृङ्खलता को प्रश्रय दे रहे हों तब यह नम्रता और भी आवश्यक हो जाती है। जनता कितनी भी शिक्षा की प्रगति से विहीन हो, वह अपनी लोक-संस्कृति से और पिछले सौ साल के संघर्षों से अपनी अदम्य शक्ति का परिचय दे चुकी है। उसने जिस कवि को अपना हृदय-सम्राट् बनाया है, उसकी आलोचना ज़रा सोच-समझकर करनी चाहिए। और सबसे आवश्यक बात यह है कि पुस्तक की आलोचना करने के पहले उसे एक बार पढ़ लेना चाहिए। इस आवश्यक कार्य के बिना 'ऐतिहासिक दृष्टि' बहुत ही खतर-नाक साबित होगी।

हिन्दी में मार्क्सवादी लेखकों को काम करते हुए लगभग बीस वर्ष हो गए। इस अवधि में उन्हें जितनी सफलता मिल सकती थी और मिलनी चाहिए थी, उतनी नहीं मिली। सन् बीस से सन् चालीस तक के वर्षों को देखें तो उतने ही वर्षों में छायावादी कवियों तथा प्रेमचन्द और रामचन्द्र शुक्ल के हाथों हिन्दी-साहित्य का धरातल ही बदल गया था। उतने ही काल में मार्क्सवादी लेखकों की उपलब्धियाँ क्या हैं? ये उपलब्धियाँ नगण्य नहीं हैं, किन्तु उन बीस वर्षों के साहित्य की तुलना से नगण्य ही हैं। इसका कारण क्या है? मार्क्सवाद एक नया वैज्ञानिक दृष्टिकोण देता है; समाज की गतिविधि को समझने के साथ साहित्य के मूल्याङ्कन के लिए भी नई दृष्टि देता है। साथ ही जनता से प्रेम, जनता में भी सम्पत्तिहीन जनों से गाढ़ी सहानुभूति और सहानुभूति के साथ उनका भाग्य बदलने का क्रान्तिकारी उत्साह भी देता है। इस तरह सहानुभूति और विचार-धारा—दोनों ही में वह श्रेष्ठ है। किन्तु हमारे अनेक मार्क्सवादी लेखक सहानुभूति और विचार-धारा—दोनों ही में पुराने साहित्य-कारों से पिछड़े हुए हैं। उनका यह पिछड़ापन पुराने साहित्य के मूल्याङ्कन में सबसे अधिक दिखाई देता है।

वाल्मीकि ने अपने महाकाव्य में प्रकृति और मानव-चरित्र का अनुपम गहराई से चित्रण किया है। उनके राम भारतीय साहित्य में सक्रिय प्रतिरोध के ज्वलन्त प्रतीक हैं। आचार्य शुक्ल ने तोल्स्तोयपन्थ की निष्क्रियता की आलोचना करते हुए वाल्मीकि के राम को सक्रिय वीरों के प्रतीक-रूप में सामने रखा था। इस तरह उनका दृष्टिकोण उन 'मार्क्सवादी' लेखकों से कहीं अधिक वैज्ञानिक था, जो वाल्मीकि को शुङ्गवंश का चारण मानते रहे हैं।

कालिदास सामन्त-वर्ग के आश्रित कवि थे। शुक्लजी ने हिन्दी के रीतिकालीन कवियों की चर्चा में दिखलाया है कि इनमें से अनेक सच्चे कवि थे किन्तु वातावरण से प्रभावित हुए बिना वे भी न रहे। सामन्त-वर्ग के आश्रित कवियों के प्रति यह हमारा दृष्टिकोण सही है। कालिदास में, देखना चाहिए, कहाँ तक सच्ची मानवीय संवेदना व्यञ्जित हुई है, किस सीमा तक सामन्त-वर्ग के प्रभाव से वह कुण्ठित हुई है। यह भी देखना होगा कि उस समय का सामन्त-वर्ग १७-१८वीं सदी के सामन्तों की तरह क्षय और ह्रास की दशा में न था। यह सब कौन करे? आसान तरीका यह है कि 'रघुवंश' में राजाओं की चर्चा है, इसलिए कालिदास को सामन्त-वर्ग का चारण घोषित कर दिया जाय।

इसी तरह सन्त-साहित्य के मूल्याङ्कन में। आसान तरीका यह है कि सन्तों को दो वर्गों में बाँट दिया जाय: निर्गुणपन्थी सन्त, सगुणपन्थी भक्त। पहले को प्रगतिशील माना जाय, दूसरे को प्रतिक्रियावादी। कबीर से वर्णाश्रम-धर्म के विरोध में पंक्तियाँ एकत्र की जायँ, तुलसी से उसके समर्थन में। इससे सिद्ध हो जायगा कि अपने समय की परिस्थितियों को देखते हुए कबीर प्रगतिशील थे, तुलसी प्रतिक्रियावादी। सच्ची मानवता की पुकार कबीर में सुनी गई; तुलसी ने उसे कलियुग का पाप और कुप्रभाव कहा। फिर भी तुलसी को महान् कहना हो तो उनकी कला को विचार-शून्य बताकर उसमें शैशव और सहानुभूति का रस-परिपाक कर दो। पता नहीं, तुलसी में जब मानवता की पुकार का ही विरोध था, तब यह सहानुभूति किसके लिए उमड़ पड़ी थी? यदि कहा जाय मर्यादा पुरुषोत्तम राम के लिए, तो यशपालजी कहेंगे, "**तुलसी की कल्पना में अवतार की आवश्यकता सामन्तशाही रूपी विषमताओं को दूर करने के लिए नहीं अपितु वर्णाश्रम-धर्म पर आश्रित सामन्तशाही के सम्मुख आ गई विषमताओं को दूर करने के लिए थी।**" और ये विद्वान् हिन्दी के प्रगतिशील साहित्य से 'कुत्सित समाज शास्त्र' और 'संकीर्णतावाद' का मूलोच्छेद करने में एड़ी-चोटी का पसीना एक कर चुके हैं!

इस सीधे तरीके के विपरीत शुक्लजी में एक पेचीदा तरीका मिलता है। 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' में वह कहते हैं कि कबीर ने एक ओर तो भारतीय वेदान्त का पल्ला पकड़ा, दूसरी ओर निराकार ईश्वर की 'भक्ति' के लिए सूफ़ियों का प्रेम-तत्त्व लिया। इस तरह भक्तों और सन्तों का दो एकदम भिन्न, परस्पर नितान्त विरोधी वर्गों में बँटवारा खत्म हो जाता है। उधर "**सगुणोपासक भक्त भगवान् के सगुण और निर्गुण दोनों रूप मानता है, पर भक्ति के लिए सगुण-रूप ही स्वीकार करता है; निर्गुण-रूप ज्ञान-मार्गियों के लिए छोड़ देता है।**" तुलसीदास भी कहते हैं, "**अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा।**" कबीर, तुलसी, जायसी आदि कवियों में इन समानताओं के कारण शुक्लजी ने उन सभी की चर्चा 'भक्ति-काल' के अन्तर्गत की है। इन समानताओं को देखने से वह सरल वर्गीकरण ख़त्म हो जायगा। इसलिए यशपालजी ख़फ़ा होकर कहते हैं, "**कबीर और तुलसी दोनों को भक्ति-मार्ग का कवि कहकर एक श्रेणी में रख देना ऐतिहासिक मूढ़ता और अज्ञान ही कहा जायगा।**" यद्यपि यह यशपालजी का पहला लेख है, जिसमें उन्होंने साहित्य पर इतिहास की दृष्टि फेंकी है, फिर भी उन्होंने अपने इस प्रथम प्रयास में जिस मूढ़ता का उद्घाटन किया है, वह सचमुच ऐतिहासिक है!

काव्य में सूक्तियाँ ही अपेक्षित नहीं हैं; उसमें मानव-जीवन का सजीव चित्रण भी होना चाहिए। कौन मानवता की पुकार सुनता है, इसकी एक कसौटी यह भी है कि कौन मानव का चित्रण करता है। शुक्लजी के शब्दों में तुलसीदास "**अपने ही तक दृष्टि रखने वाले भक्त न थे, संसार को भी दृष्टि फैलाकर देखने वाले भक्त थे।**" उन्होंने 'व्यक्त जगत्' के 'अनेक-रूपात्मक स्वरूप को' सामने रखा। इस तरह तुलसी का दृष्टिकोण व्यक्त-जगत् को ग्रहण करता है, उसके अनेकात्मक स्वरूप को काव्य में चित्रित करता है। किन्तु यशपाल-रांगेय राघव-राहुल सम्प्रदाय को व्यक्त-जगत् की अस्वीकृति, काव्य में मानव-चरित्र के चित्रण का अभाव ही परम कलात्मक तत्त्व प्रतीत होता है!

प्राचीन साहित्य के मूल्याङ्कन की यह पद्धति—मानव-जीवन के चित्रण को परखकर सूक्ति-संकलन के बल पर कवियों का मूल्याङ्कन—छायावादी कवियों की आलोचना में भी दिखाई दी। इसी पद्धति के कारण प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी वर्मा की छायावादी उपलब्धियों का उचित मूल्याङ्कन नहीं हुआ, कलात्मक सौन्दर्य से शून्य, भाव-विह्वलता से शून्य, और सुसंगत विचार-धारा से भी शून्य 'पन्त प्रगति के पथ पर' का इतना अभिनन्दन हुआ। यह पद्धति हिन्दी के अनेक 'मार्क्सवादी' लेखकों में इतनी दृढ़ता से अपनी जड़ जमाये है कि उनके संस्कारों का अंग बन गई है। वे पुराने कवियों की प्रशंसा भी करेंगे तो ऊपरी मन से; इसलिए करेंगे कि विदेश के मार्क्सवादी लेखक अपने पुराने लेखकों की परम्परा पर गर्व करते हैं। किन्तु उनके भीतर से संस्कार यही कहते हैं: ये सब स्वामी-वर्ग के स्वार्थ-साधक थे! यही कारण है कि पिछले बीस वर्षों में मार्क्सवादी लेखकों को जितनी सफलता मिलनी चाहिए थी, वह उन्हें नहीं मिली। इससे न तो मार्क्सवाद की हानि होती है, न वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास की। स्वयं इन लेखकों की अवश्य हानि होती है और वे हिन्दी लेखक हैं, इसलिए एक सीमा तक हिन्दी-साहित्य की भी हानि होती है। इसीलिए सेवा में निवेदन है; प्राचीन साहित्य की नैतिकता की निन्दा करने से पहले अपनी नैतिकता का स्तर ऊँचा कीजिए, सूक्ति-संकलन के बदलने मानव-जीवन के चित्रण पर ध्यान दीजिये, अपने से पहले के आलोचकों, विशेषकर आचार्य शुक्ल, का गम्भीरता से अध्ययन कीजिए, उस जनता की रसानुभूति को थोड़ी सहानुभूति से देखिये जिसकी सेवा करने का आपने व्रत लिया है और साहित्य में भावों, विचारों, इन्द्रिय-बोध, कलात्मक गठन, भाषा की चित्रमय, संगीतमय, अभिव्यञ्जना—इन सभी का ध्यान रखते हुए उसका मूल्याङ्कन कीजिए। इस मार्ग पर चलने से आप हिन्दी आलोचना-साहित्य को समृद्ध कर सकेंगे और वास्तविक अर्थ में जनता की सेवा कर सकेंगे। वर्ना पिछले बीस वर्षों को देख लीजिए; 'नौ दिन चले अढ़ाई कोस' के हिसाब से ही प्रगतिशील साहित्य गतिशील होगा।

*यशपाल*

# जैनेन्द्रकुमार का नया उपन्यास 'जयवर्धन'

'जयवर्धन' श्री जैनेन्द्र कुमार का पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली द्वारा प्रकाशित नवीनतम उपन्यास है। जैनेन्द्रजी ने हिन्दी-साहित्य में प्रखर औपन्यासिक प्रतिभा लेकर कदम रखा था। उनकी आरम्भिक रचना 'परख' और तदुपरान्त 'त्याग पत्र' ने भी हिन्दी-कथा-साहित्य पर उनकी गहरी छाप दी थी। उन रचनाओं में विकास के अंकुर पाकर प्रेमचन्द जी तथा साहित्य के अन्य पारखियों ने जैनेन्द्रजी से बहुत ऊँचे स्तर का कथा-साहित्य पाने की सम्भावना प्रकट की थी। जैनेन्द्रजी कुछ-कुछ अन्तर और व्यवधान से लिखते ही रहे हैं। गत वर्षों में उनके छोटे उपन्यास 'व्यतीत' और 'सुखदा' प्रकाशित हुए हैं। उनके कृतित्व की फिलहाल अन्तिम सृष्टि 'जयवर्धन' है। जैनेन्द्रजी ने कैसी परिपक्वता प्राप्त की है और भविष्य में उनसे क्या सम्भावनाएँ हो सकती हैं, इस परिचय के लिए 'जयवर्धन' का विवेचन सहायक हो सकेगा।

जैनेन्द्रजी ने 'जयवर्धन' उपन्यास आज से लगभग पचास वर्ष आगे आने वाले भविष्य की कल्पना करके लिखा है। भविष्य-कल्पना द्वारा समाज के कार्य-कलाप और व्यवहार का अनुमान करने का प्रयोजन कुछ सीमा तक कौतूहल उत्पन्न करना और समाज के विकास अथवा ह्रास की सम्भावनाओं के प्रति संकेत करना होता है। 'जयवर्धन' के लेखक का प्रयोजन कौतूहल उत्पन्न करना नहीं रहा। पूरे उपन्यास में पचास वर्ष पश्चात् औद्योगिक विकास से—यदि जैनेन्द्रजी उसे विकास न कहना चाहते तो—या यन्त्रों की सहायता से भारतीय समाज के जीवन-व्यवहार में जिन परिवर्तनों की आशा या आशंका की जा सकती है उनका पुस्तक में कोई परिचय नहीं दिया गया। 'जयवर्धन' के पाठक को आज से पचास वर्ष बाद की दिल्ली या बम्बई आज की दिल्ली या बम्बई से कुछ भी पृथक् नहीं जान पड़ेगी। भविष्य की कल्पना पर लिखे राहुल सांकृत्यायन, एच० जी० वेल्स और हक्सले के उपन्यासों, 'बाईसवीं सदी', 'मैशीन एण्ड टाइम' और 'एप एण्ड एसेंस' या 'दी ब्रेव यंग वर्ल्ड'-जैसे कौतूहल की सृष्टि करते हैं, उसका आकर्षण जैनेन्द्रजी को नहीं रहा। जैनेन्द्रजी ने राहुल, वेल्स और हक्सले की भाँति भविष्य में भारतीय समाज के विचारों को बेचैन करने वाली अथवा नई विचार-धारा को प्रोत्साहन देने वाली आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का कुछ इंगित करना भी आवश्यक नहीं समझा। 'जयवर्धन' को पढ़ते समय पाठक की कल्पना की पृष्ठभूमि में उसका आज का परिचित समाज ही रहता है परन्तु उसके पात्रों के सम्भाषण अवश्य विचित्र जान पड़ते हैं। लेखक ने अपने पात्रों के सम्भाषणों द्वारा ही अपनी रचना के प्रयोजन अर्थात् समाज के भावी विकास और ह्रास की सम्भावनाओं को व्यक्त करने का

यत्न किया है।

पुस्तक के आरम्भ में पूर्वपरिचय या समर्पण के रूप में जैनेन्द्र जी ने लिखा है—
" **'जयवर्धन' पाठक के पास आ तो रहा है, पर कह नहीं सकता कितना वह उपन्यास सिद्ध होगा। राजनीति ने दुनिया को संकट में डाल दिया है। उसका कहना है, राज का यह रूप हो, नहीं तो दूसरे में पड़ना होगा, जैसे और त्राण न हो, यों तनाव फैलता है और युद्ध अनिवार्य होता जाता है। पञ्चशील काम की बात है पर शस्त्रास्त्र निर्माण के साथ उसका प्रकट अनमोल नहीं दीखता फिर वह रोग के निदान में भी नहीं उतरता। जो हो और बातों के साथ मेरे मन पर वह संकट भी छाया रहा है।**" पाठक अनुमान करेगा कि समाज में शासन या राज को किसी-न-किसी रूप में आवश्यक समझा जाना जैनेन्दजी के लिए त्रास का कारण है। भिन्न-भिन्न देशों में शासनों या राज्यों का होना युद्ध को अनिवार्य बना रहा है। पंचशील बेकाम की बात तो नहीं, परन्तु वह शासन के किसी-न-किसी रूप को आवश्यक बनाए रखने और अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष उत्पन्न करने वाले कारणों का निवारण नहीं कर पाता। इस संकट की छाया से प्रेरित होकर या त्रस्त होकर जैनेन्द्रजी ने 'जयवर्धन' उपन्यास में मानव-समाज के लिए राज्य को आवश्यक न समझे जाने के और अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों के कारणों को दूर कर सकने के मार्ग की विवेचना कहानी के माध्यम से की होगी।

'जयवर्धन' उपन्यास की कहानी का शरीर एक अमरीकन पत्रकार बिल्बर शोल्डन हूस्टन की २१ फरवरी, २००७ से १५ अप्रैल, २००७ तक भारत में लिखी डायरी है। हूस्टन भारत में उससे पूर्व दो बार सम्वाददाता के रूप में आ चुका है तीसरी बार वह भारत के तत्कालीन राष्ट्राधिप 'जयवर्धन' पर एक पुस्तक लिखने के लिए भारत में आया है। हूस्टन का परिचय या हूस्टन की डायरी का परिचय देते हुए जैनेन्द्रजी ने कहा है कि पत्रकारिता के क्षेत्र में दार्शनिकता सुलभ नहीं होती, न उपयुक्त ही होती है; परन्तु हूस्टन दार्शनिक थे। अर्थात् पाठक 'जयवर्धन' उपन्यास में दार्शनिक दृष्टिकोण के लिए प्रस्तुत रहे। दार्शनिक हूस्टन ने 'जयवर्धन' का परिचय दार्शनिक के रूप में दिया है। इस प्रकार पुस्तक में गूढ़तर दार्शनिक विचारों की विवेचना और व्याख्याओं की सम्भावना बन जाती है।

हूस्टन भारत में सम्वाददाता की स्थिति में आता है। वह राजनीतिक अतिथि या कूटनीतिक सेवा में नहीं है परन्तु राष्ट्राधिप के भवन में अतिथि बन जाता है। भारत-सरकार के आधुनिक व्यवहार के अनुसार यह बात व्यावहारिक नहीं लगेगी। राष्ट्राधिप के भवन में एक व्यक्ति हूस्टन से मिलने आकर अपना विशेष परिचय दिये बिना उसे चेतावनी दे जाता है। "**जयवर्धन बे-रीढ़ का आदमी है। हर उन्नति का शत्रु वह है। वही असल बाधा है। प्रतिगामी शक्तियों के लिए एक सहारा है वह। वही प्रगति में अवरोध है।**" कहानी आगे जाकर बताती है इस व्यक्ति का नाम इन्दुमोहन है। वह एक अति सबल, आतंक मार्ग में आस्था रखने वाले दल का प्रतिनिधि है।

हूस्टन देश में चारों ओर आन्दोलन की गर्मी पाता है। जयवर्धन शान्त और तटस्थ है। जयवर्धन बहुमत के दल के नेता के रूप में राष्ट्राधिप है। इस दल का नाम 'राष्ट्रीय-महासभा' है यह केवल कहानी के अन्त में मालूम होता है। इस दल का कार्यक्रम क्या है, यह कहानी के अन्त में भी मालूम नहीं हो पाता। जयवर्धन के विरोधी तीन राजनीतिक दल

हैं। इनमें से एक दल के प्रतिनिधि आचार्य हैं जो हूस्टन के आने के समय जेल में हैं। आचार्य की पुत्री इला जयवर्धन के साथ राजमहल में रहती है। वह जय की सखी, संरक्षिका, प्रेमिका सभी कुछ है, परन्तु जय से उसका विवाह नहीं हुआ है।

उपन्यास में आचार्य के दल के संगठन, उसके नाम, कार्यक्रम अथवा उसके सार्वजनिक प्रभाव का कोई परिचय नहीं मिलता। आचार्य के विचारों की झाँकी वार्तालापों से मिलती है। आचार्य गांधी जी की छाया हैं। वे जैनेन्द्रजी की भाषा में गांधीजी के यन्त्र-विरोधी विचारों को प्रकट करते हैं। चरखा कातना आत्मिक शान्ति का उपाय मानते हैं। वार्तालाप में ऐसा भी आभास मिलता है कि जयवर्धन कभी आचार्य का शिष्य अथवा अनुगत रहा होगा। उदाहरण **"जयवर्धन, हाँ भूला है। वह प्रपञ्च में पड़ गया है, सीखा था, भौतिक माया है, आत्मा ही है, सो है। राज पर पहुँचकर जयवर्धन यह भूला बैठा दीखता है। यह चरखा देखते हो, पर वह कातना भूल गया है। सुनता हूँ चरखा कातने की बात पर वह अब हँस भी लेता है। अंकों में वह रहने लगा है। इसलिए परिणाम में उसे मोह उपजा है।"**[१]

आचार्य को गाधीजी की भाँति प्रार्थना में अपार आस्था है—**"माया में जो हम भूलते हैं, तो वह माया भी तो ईश्वर की आज्ञा से ही मोहजाल लेकर आती है, इसीसे मैं यहाँ बैठा प्रार्थना करने और चरखा कातने के सिवाय और कुछ कर्म अपने लिए नहीं देखता हूँ।"**[२] आचार्य गांधीजी का ही रूप नहीं रह सके, क्योंकि आचार्य के गांधीवाद में जैनेन्द्रजी के अकर्मवाद का भी पुट मिल गया है।

राजनीति और कूटनीति के व्यवहार का मामूली मोटा परिचय रखने वाला पाठक आश्चर्य करेगा कि हूस्टन २१ फरवरी को दिल्ली पहुँचता है और ३ मार्च को जयवर्धन और आचार्य में समझौता करा सकने के लिए आचार्य से जेल में भेंट कर बातचीत करता दिखाई देता है। हूस्टन चाहे जितना दार्शनिक रहा हो, राष्ट्राधिप को देश में उसके अतिरिक्त और कोई व्यक्ति ऐसे काम के लिए लभ्य न होना विस्मय की बात है, जो कहानी के प्रति अविश्वास अथवा अयथार्थ का सन्देह उत्पन्न करती है। अस्तु—

हूस्टन जय और आचार्य के बीच विरोध का कारण भाँपने के लिए प्रश्न करता है—**"आप उद्योगीकरण नहीं चाहते तो—"**

आचार्य टोक देते हैं—**"उद्योग कहते हो, प्रमाद क्यों नहीं कहते? आलस्य क्यों नहीं कहते? उद्योग मशीन पर डालकर खुद उद्यम से बचने का ही तो वह बहाना है। फुरसत चाहिए, यह क्यों नहीं कहते, मौत चाहिए।"**[३] जैनेन्द्रजी ने आचार्य को विचारों की मर्यादा के रूप में और जय को व्यवहार की मर्यादा के रूप में रखा है। इसलिए उपरोक्त विचार को जैनेन्द्र जी का संसार को त्राण दे सकने वाला दर्शक माना जा सकता है।

जैनेन्द्र जी ने राजनीतिक और राज से समाज को त्राण का मार्ग सुझाने के लिए जिस दर्शन का अनुमोदन किया है उसके बौद्धिक या आध्यात्मिक पक्ष को भी आचार्य की

---

१. पृ० ३५।
२. पृ० ३६।
३. पृ० ३६।

वाणी में इस प्रकार दिया है—"**शांति नकारात्मक ही है। हम नकार को गलत समझते हैं। पर जब हम नकार होते हैं, तब जो है वह मिट नहीं जाता, बल्कि वह खुला अवसर पाता है। हमारे यहां ध्यान है, योग है, यह सब एक तरह नकार की साधना है, पर वह हमारे जीवन में भारत के जीवन में वृथा नहीं हुआ है।**"

हूस्टन शंका करता है —"**क्षमा कीजियेगा, क्या यह मुंह फेरना नहीं है, पलायन नहीं है ?**"

आचार्य का उत्तर है —"**है, लेकिन वह अशुभ नहीं, शुभ है।**"[१]

जय का राज के उत्तरदायित्व से यह शुभ पलायन ही उपन्यास की परिणति है।

हूस्टन आचार्य से पूछता है—"**पर क्या मैं कुछ नहीं कर सकता जिससे आपके बीच की दूरी दूर हो ?**"

आचार्य का उत्तर है—"**पर तुम भूलते हो, भाई, वह दूरी नहीं है, निकटता है—निकटता न सह पाने पर कभी जबरदस्ती दीवारें बीच में खड़ी कर ली जाती हैं। कहा न कि ईश्वर की करनी है। हम तुम या कोई इसमें कुछ नहीं कर सकते।**[२] इसी निकटता के परिणाम में आचार्य जेल में हैं। इला भी कहती है कि जय के मार्ग में संकट न बनने के लिए ही आचार्य जेल में रहना चाहते हैं। जय अपने राजनीतिक दल के शासन के स्थान पर एक सर्वदलीय शासन वा मन्त्रिमण्डल बना सकने की चिन्ता में है। बहुत ही शीघ्र ८ मार्च को हूस्टन को हम जय के अत्यन्त प्रबल विरोधी स्वामी चिदानन्द से जय और स्वामी के मत का विरोध दूर करने के लिए बात करते पाते हैं। 'जयवर्धन' की कहानी में यथार्थ की भ्रान्ति स्थापन करने के लिए पाठक को यह विश्वास करना होगा कि २००७ ईस्वी में २१ फरवरी से १५ अप्रैल तक राज्य के लिए भारत में हूस्टन से अधिक भारत का हितकारी और सुलझा हुआ कोई दूसरा व्यक्ति न था।

स्वामी चिदानन्द भारत की आध्यात्मिक, नैतिक और व्यावहारिक परम्परा में ही भारत की आत्मा की रक्षा देखते हैं। वे हूस्टन से कहते हैं—"**हर गति से स्थिति चलित होती है यद्यपि पुष्ट भी होती है। प्रतिकूलता से भारत कभी डरा नहीं है। हम खुलकर उस सबके प्रतिकूल हैं जो पदार्थोन्मुख है, आत्मोन्मुख नहीं है, हम मर्यादा-हीनता के प्रतिकूल हैं, भोगाचार के प्रतिकूल हैं, और क्या आप कह सकते हैं राज्य इस बारे में शिथिल नहीं है ?**"

चिदानन्द को जय की नीति से कहाँ विरोध है यह स्पष्ट नहीं, परन्तु उन्हें जय और इला का अविवाहित सम्बन्ध सह्य नहीं है। यही उनके विरोध का कारण जान पड़ता है। वे कहते हैं—"**नैतिकता से अलग जीवन टिक नहीं सकता। यह सुविधा का प्रश्न नहीं है सनातन का प्रश्न है और नीति के स्रोत हमारे धर्म-शास्त्र हैं। समाज राज से नहीं चलता, धर्म से, धर्मज्ञ से, धर्म-शास्त्र से चलता है। यह निरा बुद्धि का प्रमाद है जो राज्य को सम्पूर्ण स्वत्वाधिकारी मानता है।**"[३] चिदानन्द धर्मशास्त्र को अपौरुषेय, पुरुष द्वारा निसृत, प्रणीत नहीं मानते हैं। उनका कहना है—"**गो-ब्राह्मण-प्रधान संस्कृति ही भारतीय हो सकती है।**

१. पृ० २९।
२. पृष्ठ ५९।
३. पृष्ठ ७१।

**तदनुकूल यहाँ की राजनीति हो, वैसी अर्थरचना—यह बात अत्यन्त स्पष्ट है। इससे जो-भर इधर-उधर जाना नहीं हो सकता।"**

चिदानन्द जय से किसी भी प्रकार समझौता सम्भव नहीं समझते। इला के विषय में उनका मत है—"**वह अनिष्टकारिणी है, तब तक राज्य का क्षेम नहीं है। यह क्या दुस्सा-है कि न विवाह करती है, न साथ छोड़ती है, न लज्जित होना सीखती है। हमारा देश मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र को जानता है। हमारा आदर्श रामराज्य है। मुझे यही विस्मय है कि भारतीय जन कैसे इस अधमाचार को एक क्षण के लिए भी सह सका और सह रहा है। ···कलंक सिंहासन पर शोभा पा रहा है। यह विपर्यास जब तक समक्ष है, किसी सहयोग, किसी सम्भावना की बात ही नहीं उठती।**[1] इसमें वे किसी-किन्तु का अवकाश नहीं समझते। कहते हैं—"**इला मेरी कन्या होती तो जीवित नहीं रह सकती थी।**"

स्त्री के विषय में चिदानन्द का मत है, "**स्त्री कोमल है क्योंकि वह बल चाहती है, बल का प्रयोग चाहती है, उसके बिना वह अशान्त है। सब खतरे को शान्त करने का उपाय है, स्त्री के लिए वह पुरुष है।**"

जैनेन्द्रजी के चिदानन्द की प्रतिच्छाया भी आधुनिक भारतीय समाज में मिल सकती है। यहाँ उन्होंने अपनी दृष्टि से राष्ट्रीय स्वयं सेवक सेना के विचारों को अभिव्यक्ति दी है परन्तु उनके नेता को भी जैनेन्द्र प्रकृति का पुट दिये बिना नहीं रह सके हैं।

जय या जय के शासन का विरोधी तीसरा दल नाथ दम्पति का है। नाथ की पत्नी एलिजाबेथ हंगेरियन है। इस दल का नाम अस्पष्ट तौर से जैनेन्द्रजी ने प्रगतिवादी दल दिया है और उसकी मान्यता इस प्रकार बताई है—"**यथार्थ और संगठन में उन्हें विश्वास है। उनके अनुसार मनुष्य मूलतः प्राण है और वहाँ अच्छा या बुरा नहीं है। अच्छे-बुरे की प्रणालियों को सुविधा के लिए समाज पीछे बनाता है। इसलिए आदर्श की ओर से चीजों को लेना छलना है। व्यक्ति पर इमारत बाँधना समष्टि को बिखराना है। उन्नति का यन्त्र संगठन है और संगठित कतिपय बिखरे असंख्य पर भारी पड़ते हैं। यह प्रकृति का नियम है और संस्कृति के नाम पर मनुष्य जो रचता है उसका मूल्य सर्वथा सापेक्ष और सामयिक है। वे रूढ़िवाद, धर्मान्धता और गुरुडम को उन्नति के लिए घातक समझते हैं।**" नाथ का प्रगतिवादी दल राष्ट्र के लिए जय से भिन्न क्या रचनात्मक कार्यक्रम चाहता है जिसके कारण उसका जय से विरोध है, इसका उल्लेख नहीं है। दलों के राजनीतिक मतभेदों का कारण विधान या शासन-नीति में परिवर्तन अथवा राजनीतिक और आर्थिक अधिकारों की माँग होती है। दार्शनिक मतभेदों के आधार पर राजनीतिक संघर्ष नहीं चलते।

जय के दल की शासन-नीति के व्यवहार से नाथ के दल को विरोध यह है "**पुलिस शासन-विरोधी प्रदर्शनों की गुण्डागर्दी को नहीं रोकती। उनका कहना है कि आज की सरकार से हमारे तीव्र मतभेद हैं, लेकिन राष्ट्राधिप को अपमान और उपहास का पात्र बनाना किसी प्रकार के प्रशासन या अनुशासन के लिए सह्य नहीं। हमें पूछना है कि क्यों इन प्रवृत्तियों को यहाँ तक बढ़ने दिया गया कि वे सार्वजनिक शान्ति में विघ्न डालें?**" इस रुख को जय का

१. पृष्ठ ७५।
२. ृ० १४४।

विरोध न कहकर जय के विरोध का दमन करने की ही माँग क्यों न मानें ?

जय के दल का नाम, रूप-रेखा और उसके कार्यक्रम का परिचय पुस्तक में स्पष्ट नहीं है। उसे जय के व्यक्तिगत विचारों से ही समझना होगा। जय के ये विचार देश और समाज की परिस्थितियों के विषय में कम, उसकी व्यक्तिगत अनुभूतियों की अभिव्यक्ति ही अधिक हैं। अपने या अपने अस्तित्व के सम्बन्ध में जय कहता है—"**शायद अन्त में हम सब पहेली हैं। कदाचित् इसी कारण है। समाधान एक ईश्वर है। बाकी उलझन है, प्रश्न है, क्योंकि खण्ड है। दीखने में है सो इसीलिए कि वह होने से कम है। है सो तो परोक्ष ही रहेगा। असल होना भाव में है। आकार में अंश ही होता है।**" भाषा में भी अर्थ के अनुकूल उलझन मौजूद है।

इस उद्धरण की तुलना में आचार्य की एक अभिव्यक्ति को भी देखिये—"**हम भगवान् को उपासना के लिए मानते है, पर हर दो के बीच वह हमेशा मौजूद है। नफ़रत में भी वह है। हर सम्बन्ध को वह थामता है। अलगपन ही है जो अनीश्वर है। पर ईश्वर के सिवाय और है कुछ नहीं, इससे निरा अलगपन भी कहीं नहीं है।**" दोनों व्यक्तियों की अभिव्यक्तियों में ईश्वर एक समान है शायद इसलिए उनमें अलगपन नहीं है परन्तु यहाँ तो व्यक्तित्व भी नहीं जान पड़ते जिनमें विचार या व्यवहार का संघर्ष हो सके।

जय हूस्टन से मौलिक प्रश्न उठाता है—'**कोई मुझे मारना चाहता है तो उसके हाथों मुझे मरने का अधिकार क्यों नहीं है ? क्यों जरूरी है कि मैं बचाव करूँ ?**" अपने प्रति करुणा जगाने की इसी वृत्ति से जय शासक की स्थिति की व्याख्या करता है—"**शासन के आसन पर आदमी प्रेम से और प्रेम के लिए नहीं पहुँचता। अहंकार के बल पर वहाँ पहुँचना और उसी के बल पर रहना होता है। इससे जो भीतर से सम्राट् है वह सिंहासन नहीं पाता, सूली पाता है। वहीं से फिर पूजा पाता है। जो राजासन पाता है वह वैर जगाता है। कोई कारण नहीं कि लोग मुझे प्रेम करें।**"[२]

शासन के उत्तरदायित्व के प्रति जय की मनोवस्था उसके इन शब्दों से भी प्रकट है—"**प्रतीक्षा की कि विद्रोह जैसा कुछ उठे और मैं अपनी आत्मा को लेकर इस राज्य से फेंक दिया जाऊँ। तब इन आत्मिक प्रश्नों से सुलझने को ही रह जाऊँ। पर वह समय नहीं आया।**"[३]

ऐसा व्यक्ति किन परिस्थितियों के कारण सिंहासनारूढ़ होने के लिए विवश हुआ यदि उपन्यास से जाना जा सकता तो उसे पढ़ने का श्रम सार्थक हो सकता था। कहानी यह भी नहीं कहती कि कि जय को राज्य का भार उत्तराधिकार के रूप में सँभालना पड़ गया था या तत्कालीन सम्राट् ने किसी तिथि-विशेष को प्रातः जय को सबसे पहले राज-मार्ग पर देखकर उसे राज्य सौंप दिया था और जय संकट से अपरिचित होने के कारण उसका शिकार बन गया। पुस्तक के सन्दर्भ में यह वर्तमान है कि जय दस वर्ष पूर्व निर्वाचन में बहुमत द्वारा ही शासक बना था। उसके शासन-कार्य से उपराम होने के ज्ञान लाभ की घटना का भी कहीं

१. पृ० २९।
२. पृ० १११।
३. पृ० ११३।

उल्लेख नहीं है।

राज्य संस्था के विषय में जय का चिन्तन है—"**मुझे लगता है, क्रमशः राज्य यान्त्रिक न रहेगा, वह स्थूल और भारी कम होता जायगा। आज की अमलदारी के रूप में नहीं बल्कि अन्तः प्राप्त दायित्व के रूप में वह व्याप्त होगा······ऐसा यदि नहीं है, राज्य है और वह व्याप्त नहीं केन्द्रित है, नैतिक नहीं कार्मिक है तो ऐसे राज्य के साथ अनिवार्य होकर युद्ध कैसे न लगा चलेगा। मैं नहीं समझता। उसे खर्च चाहिए और आय के साधन चाहिएं। पूंजी चाहिए और मन्त्री चाहिए।**"[१] राज्य के सम्बन्ध में यह भावी कल्पना जैसी भी हो, कहानी में इस कल्पना को चरितार्थ करने के लिए जय के किसी प्रयत्न का उल्लेख नहीं है।

जय एक बार फिर कहता है—"**सुनो, राज्य कुछ है तो दमन का यन्त्र है। अहिंसा में तुम कहते हो दमन है, निषेध है। उस अर्थ में तो राज्य अहिंसा में भी साधन हो सकता है। मत समझो मैं तुमसे असहमत हूँ। अपने विकास में ही मनुष्य ने राज्य संस्था का विकास किया है और विकास की दिशा अहिंसा है। फिर भी राज्य का तन्त्र और यन्त्र हिंसा का है। मुझसे ज्यादा इसको दूसरा क्या जानेगा।**"[२]

जय एक सार्वजनिक सभा में भाषण देता है—"**वह ( राज्य ) आवश्यक बुराई समझा जाता है। हमें उसे अनावश्यक करना है। बुराई वह है इसलिए कि बेजान है, मशीन की तरह है। मन उसमें नहीं है······आप हम सब जानदार हैं, इसलिए किसी के अधीन नहीं स्वाधीन रहना चाहते हैं। स्वाधीनता सबका हक है, साफ है, राज्य एक आधीनता पैदा करता है। कह लो कि लोक-तन्त्र में वह अधीनता अपनी निज की है। यानी स्वाधीनता है, या चुनाव के गिनती के दिनों में जब हर आदमी से मत चाहा जाता है, वह भावना कुछ जगी दिखाई देती है, तब भी वह मुक्त नहीं होती बाद की तो बात क्या? आप सब लोगों को चाहना चाहिए कि जल्दी-से-जल्दी यह सब राजकीय काम जो बड़ा और ऊंचा और शानदार समझा जाता है, फालतू बन जाय।**"

जैनेन्द्र जी की सहानुभूति और सराहना के पात्र या उनकी आत्मा और चिन्तन के प्रतिनिधि जय के व्यवहार को समझ लेने के लिए सहायक होगा कि पाठक जाने कि उस समय देशों में कैसी राज-व्यवस्था थी या २००७ में होगी, जिसमें जय ऐसा व्यवहार कर सकेगा। जय के शब्दों में वह व्यवस्था लोकतन्त्र है जिसमें शासन के अधिकार का स्रोत चुनाव है, परन्तु वह व्यवस्था भारत के आधुनिक गणतन्त्र की भाँति नहीं है जिसमें शासन का उत्तर दायित्व मन्त्री-मण्डल के नेता प्रधान मन्त्री के कन्धों पर है और राष्ट्रपति केवल परिस्थिति-विशेष में ही शासन-अधिकार का प्रयोग कर सकते हैं। मन्त्री-मण्डल तो है, परन्तु प्रधान मन्त्री का उल्लेख नहीं है। पुस्तक-भर में केवल दो बार ही मन्त्री-मण्डल का उल्लेख मिलता है। इन दोनों स्थलों पर जय जो कुछ करता है उस पर मन्त्री-मण्डल बाद में स्वीकृति दे देगा। ऐसी ही चर्चा मिलती है। जैनेन्द्रजी की कल्पना है कि ई० २००७ में भारत का शासन अमरीकन ढंग का होगा जिसमें राष्ट्राधिप ( जिसे प्रेसीडेण्ट भी कहा जा सकता है ) प्रधान शासक होगा। जय को हम अपने राजनीतिक दल या राष्ट्रीय महासभा से कभी किसी

१. पृ० १२०।
२. पृ० १४८।

विषय में अनुमति लेने की आवश्यकता अनुभव करते नहीं पाते इससे यह भी समझा जा सकता है कि जैनेन्द्र जी की कल्पना में ई० २००७ में भारत का शासन अधिनायक-तन्त्र द्वारा होगा।

जैनेन्द्रजी की कल्पना में ई० २००७ तक भारत में साम्यवादी और समाजवादी प्रयोग समाप्त हो चुके होंगे। हूस्टन २८ मार्च के पत्र में जय का वक्तव्य पढ़ता है—"**हमारी परम्परा दूसरी, नीति दूसरी है। साम्यवादी, समाजवादी प्रयोग हो चुके। उनकी जड़ में समग्र दर्शन कब था? हमें चाहिए ऐसी अर्थ-रचना और समाज-रचना जिसमें सम्भावनाएँ किसी की न घटें, बल्कि जुड़ती जायें। इसलिए हम राज्य के जरिए सिर्फ वही करना चाहते हैं जिसमें औरों का बस न हो या रस न हो। इस तरह राज्य प्रतिद्वन्द्वी नहीं रहता, सहायक हो जाता है। राज्य सबका जहाँ हर कोई अपनी जगह राजा हो। प्रजा होने को अलग कोई रहे ही नहीं।**"[1]

भारतीय राष्ट्र साम्यवादी और समाजवादी प्रयोग कर चुकने के पश्चात् किस व्यवस्था का प्रयोग २००७ ई० में कर रहा होगा जिसमें सबकी सम्भावनाएँ जुड़ रही होंगी और पूर्ण आर्थिक तथा राजनीतिक समता होगी और समग्र दर्शन भी उसमें होगा, यदि उसके आधारों का कुछ संकेत होता तो शायद बहुत बड़ी देन होती। अस्तु, यह भविष्य-वाणी अवश्य है कि साम्यवाद और समाजवाद समस्या को सुलझा नहीं सकेंगे।

राज्य के जरिये वही करना चाहिए जिसमें औरों का बस या रस न हो। इस सुझाव का अर्थ उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण न करके उन्हें व्यक्तिगत स्वामित्व और नियन्त्रण में रहने देना है या स्पष्ट ही है। जय न केवल साम्यवाद और समाजवाद के प्रयोगों को विफल बता रहा है, बल्कि उसके समय लोकतन्त्र भी बीत चुका है। वह कहता है—"**लोक-तन्त्र के बीते आदर्श ने चुनाव का रोग ऐसा लगाया कि सब अपनी कक्षा छोड़ अधिकार और पद के लिए उचकना चाहने लगे। उस प्रतिस्पर्धा में एक आवेश का रस था। उसमें उन्हें प्रगति और उन्नति का चस्का-सा मिलता था, पर चीज़ वह थोथी थी और झूठी साबित हुई, वह खाद स्वयं उन्हींके मुँह में जिन्होंने उसे चसके से चखा पीछे कसैला हो गया।**" इन सब भ्रमों के दूर होने पर किस ज्ञान की कल्पना की जाय। लोकतन्त्र को अस्वीकार करने पर राजसत्ता या अधिनायक का ही शासन स्वीकार करना होगा। यह अद्भुत कल्पना है कि एक व्यक्ति या अधिनायक का राज्य सबका समान राज होगा, उसमें प्रजा होने को कोई शेष न रहेगा।

जय के माध्यम से लेखक जो कहना चाहता है, वह स्वयं उसके अपने मस्तिष्क में स्पष्ट नहीं यह जय के प्रेस-गोष्ठी में दिये वक्तव्य से स्पष्ट है—"**प्रश्न है खासकर उद्योगों के बारे में क्या नीति है। नीति यह है कि राज्य भरसक वही करेगा जो औरों के बस का या इच्छा का न होगा। सरकार से हमें सहकार पर जाना है—लोक-कल्याण-राज्य की एक कल्पना थी, वह बीत गई। वह हमारी नहीं है उसमें सब-कुछ राज्य करने के लिए हो जाता था। हम राज्य के पास करने के लिए कम-से-कम छोड़ना चाहते हैं। आखिर करने वाले कौन हैं। लोग ही तो हैं। राज्य करता है यानी लोग करते हैं। सहकार के साथ एक उद्देश्य**

१. पृ० २१६।

**में जो मिल जाय, वे लोग और उनका समाज। तो इस तरह से समाज सब करता है। राज्य समाज के हाथ का यन्त्र है। यन्त्र ही है मालिक नहीं।"**[1] जब लोक और राज्य, समाज और राज्य एक है, राज्य भी उनका प्रयत्न ही है तो फिर राज्य का आतंक किस कारण? लोक-कल्याण-राज्य की कल्पना से परे क्या लेखक विशिष्ट वर्ग के कल्याण में ही समाज और लोक का हित देखता है। लोक का स्वेच्छा से सहकारिता द्वारा आत्म-निर्णय से रह सकना ही कम्युनिज्म की सामाजिक विकास की कल्पना है, जिसे लेखक समाप्त हो चुका प्रयोग बताता है। स्पष्ट है कि लेखक समाजवाद और कम्युनिज्म की विचार-धारा से अपरिचित है वह सब-कुछ अस्वीकार करता है, स्वीकार क्या करना चाहता है शायद स्वयं नहीं जानता।

हम राज्य के पास करने के लिए कम-से-कम छोड़ना चाहते हैं इसका क्या अर्थ होता है? सरकार या सहकार सार्वजनिक शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, यातायात के मार्गों और बाढ़ से बचाव का काम करे या न करे? यदि करे तो उसके लिए साधन कहाँ से आये? ईश्वर की प्रार्थना और अकर्म से तो इन समस्याओं के हल हो सकने की सम्भावना है नहीं। राज्य और लोक के एकीकरण में या उनके परस्पर विलयन में लेखक को आपत्ति क्या है? राज्य के पास करने के लिए कम से-कम छोड़ने या राज्य द्वारा भरसक वही करने का, जो औरों के बस और इच्छा का न हो का तात्पर्य उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण का विरोध है तो जय या लेखक को उसे स्पष्ट रूप में कहने का साहस क्यों नहीं। यह अपरिग्रह और अकर्म का अति सूक्ष्म व्यवहार है या अज्ञान?

जय प्रेस-गोष्ठी में इतना तो स्पष्ट कहता है—"**स्टेट कैपिटलिज्म कैपिटलिज्म का बुरे-से-बुरा रूप है'''तो इसमें से उद्योगों के सम्बन्ध में हमारी नीति यह हो आती है कि सबकी सूझ-बूझ जगे और काम में आए, यानी उद्योगों पर किसी प्रकार की रोक-थाम न रहे।**" उद्योगों पर राज्य द्वारा रोक-थाम या नियन्त्रण जय या जैनेन्द्रजी को पसन्द नहीं, परन्तु बड़े-बड़े पूँजीपतियों और उद्योगों के इजारेदारों द्वारा उद्योगों और उद्योगों की पैदावार पर नियन्त्रण के सम्बन्ध में क्या हो? उद्योग-धन्धे होंगे तो उनका नियन्त्रण और स्वामित्व किसी-न-किसी के हाथ में तो रहेगा ही। यदि समाज या राज्य के हाथ में नहीं तो व्यक्ति के हाथ में रहेगा। जैनेन्द्रजी उद्योग-धन्धों के राष्ट्र के अधीन होने पर सम्भावित विषमताओं से परिचित हैं परन्तु उद्योग-धन्धों पर पूँजीपतियों के स्वामित्व और नियन्त्रण के परिणामों से परिचित नहीं। इसे आध्यात्मिक यथार्थ का नमूना समझा जाय? वे नहीं जानते उद्योगों के इजारेदार सौदे की लागत या श्रम का मूल्य कम रखने के लिए किस प्रकार बेकारी बनाये रखते हैं और अपने सौदे का बाजार दाम ऊँचा रखने के लिए अपनी होड़ में उठते नये धन्धों को किस प्रकार समाप्त कर देते हैं। जय कहता है, स्टेट कैपिटलिज़्म कैपिटलिज़्म का सबसे बुरा रूप है, अर्थात् कैपिटलिज़्म ही रहे। जय या जैनेन्द्रजी के विचार में राज-संस्था से मुक्ति का यह ही मार्ग है। वे अराजकी कामना करते हुए पूँजीवाद की अराजकता का ही समर्थन कर रहे हैं।

उद्योगों के सम्बन्ध में जय की नीति का दूसरा अंग यह है कि श्रम का क्रय-विक्रय असम्भव हो जाय। समाज में श्रम का क्रय साधनों के ऐसे स्वामी ही करते हैं, जिनके पास

१. पृ० २६०।

निजी शारीरिक श्रम से उपयोग में आ सकने योग्य साधनों की अपेक्षा अधिक साधन होते हैं, जो श्रम का क्रय करके बड़ी मात्रा में पदार्थ उत्पन्न करके मुनाफा कमाना चाहते हैं। शायद जय की कल्पना में मुनाफा कमाने के लिए व्यवसाय समाज में नहीं रहने चाहिएँ, न साधनों के इतने बड़े स्वामी। अपने श्रम को वही लोग बेचते हैं जिनके पास श्रम से उत्पादन करने के साधन नहीं होते। जय की कल्पना के समाज में न तो उद्योग-धन्धों पर रोक-थाम होगी, न श्रम के क्रय से उद्योग-धन्धों को चलाने की स्वतन्त्रता होगी, न साधनों के स्वामी होंगे, न साधनहीन होंगे ? सब ओर नकार-ही-नकार है, होगा क्या स्पष्ट नहीं। शायद आवश्यक भी नहीं, क्योंकि वह अकर्म में विश्वास करता है। इस अकर्म का यही अभिप्राय समझा जाय कि समाज में मौजूद पूँजीवादी अराजकता यथावत् बनी रहे।

जैनेन्द्रजी सम्भवतः यह जानते हैं कि आज दिन हमारे समाज में पदार्थों का परस्पर विनिमय सुविधाजनक नहीं रहा है। क्रय-विक्रय का सामाजिक प्रयोजन विनिमय होता है। श्रम का विनिमय भी क्रय-विक्रय द्वारा ही होता है। क्या जैनेन्द्रजी को श्रम के विनिमय पर भी आपत्ति है। श्रम का विनिमय न होने पर लेखक को कागज बनाने से लेकर अपनी पुस्तक बेचने तक का काम खुद ही करना होगा, यह उनकी कल्पना ने नहीं सोचा।

जय अथवा जैनेन्द्रजी इन सब उलझनों का उपाय सुझाते हैं—"**कर्म से स्वार्थ पैदा हो सकता है, अकर्म निःस्वार्थ है और हमारी दृष्टि यह है कि अकर्म की निष्ठा समाज में सामान्यतया देर से भी आए, पर उसका वह उत्कृष्ट अंग जो राज-काज सँभाले अवश्य अकर्म पर दृढ़ हो।**"[1] जय या जैनेन्द्रजी समस्या को समझ सकने से अपनी लाचारी प्रेस-गोष्ठी में इस प्रकार प्रकट करते हैं—"**सरकार रहेगी तब तक कोने भी रहेंगे जहां गरीबी रहे। रोजगार सरकार से मिलेगा तो बेरोजगारी को भी रहना होगा। सिक्के में अमीरी रहेगी तब तक गरीबी पूरी-तरह नहीं जा सकती और नौकरी का रोजगार' जब तक है, बेरोजगारी भी रहने वाली है—लेकिन मेरी ओर से आपको सुभीता है कि आप इस सुनने को अनसुना कर दें।**" यह शब्द स्पष्ट कर देते हैं कि जय और जैनेन्द्रजी समाज के आर्थिक विकास की प्रक्रिया और अर्थशास्त्र के सामान्य सिद्धान्तों से भी अपरिचित हैं।

जैनेन्द्रजी ने समाजवाद की भी एक नई परिभाषा का आविष्कार किया है—"**समाजवाद यह हुआ कि जो असामाजिक है, वर्ग या व्यक्ति, उन्हें नष्ट कर दो।**" यह परिभाषा नई जरूर है परन्तु यथार्थ नहीं है। इससे केवल समाजवाद के घोषित सिद्धान्तों का अज्ञान और आक्रोश प्रकट होता है। नष्ट करने की भावना और प्रक्रिया नकारात्मक-मात्र है। समाजवाद का प्रस्तावित कार्यक्रम और भावना सकारात्मक है। इसे यों भी कहा जा सकता था—असामाजिक भावना और तत्वों के लिए कारण न हों। जैनेन्द्रजी न केवल समाज की नई परिभाषा देते हैं बल्कि आइंस्टायन की भी एक नई व्याख्या कर देते हैं—"**आइंस्टायन ने जो बताया उससे मालूम हुआ जड़ में चेतन है, यानी जड़ सब चेतन है। शक्ति चलाती है तो जिसे चलाती है वह भी शक्ति पिंड ही है। सब एक ही माया है।**" इन वाक्यों में वैज्ञानिक ध्वनि होने पर भी अज्ञान स्पष्ट है। वैसे ही वे अदार्शनिक वाग्जाल में दर्शन की ध्वनि का समावेश करने का भी यत्न करते हैं। उदाहरणतः—"**पवित्र एक परमेश्वर है और वह सर्व-**

१. पृष्ठ २६२।

**व्यापक है—इससे अपवित्रता के लिए ठौर कहाँ ?"** एक-मात्र ईश्वर को पवित्र कहकर जय अपवित्रता की भी भावना उत्पन्न करता है और स्वयं ही पूछता है अपवित्रता के लिए ठौर कहाँ ? इसे यदि यों कहा जाता, ईश्वर पवित्र है और वह सर्वव्यापक है इसलिए अपवित्र कुछ नहीं तो शायद सीधी बात जान पड़ती और दर्शन की भ्रान्ति न हो सकती। दर्शन की ध्वनि से भ्रान्ति उत्पन्न करने का एक और उदाहरण यों है[1]—**"स्त्री भिन्न है, मैं पुरुष हूँ तब तक यह भिन्न है। भेद सच नहीं हो सकता, क्योंकि एक ओर अखण्ड और अभिन्न परमेश्वर की सत्ता सब कहीं व्याप्त है। इसलिए स्त्री और पुरुष के बीच आकर्षण कभी समाप्त नहीं होने वाला है।"** आकर्षण का कारण भेद है जो सच नहीं हो सकता और आकर्षण कभी समाप्त होने वाला भी नहीं है, क्या तर्क है ?

राज-संस्था को अनिवार्य व्याधि समझने में अथवा इस संस्था से मुक्ति की कामना करने में आचार्य भी जय के साथ हैं वे भी कहते हैं—**"हम सँभल बनेंगे तो राज्य का ही दोष दूर न होगा, बल्कि राज्य के स्वयं दूर होने का उपाय होने लग जायगा। मूल में तो राज्य एक दोष ही है। वह दबाव है समय आएगा कि वह काम एक सहयोग संस्था के जरिए हो जाया करेगा, अभी तो वह एक प्रभुसत्ता है।"** पाठक यह समझने में असमर्थ रह जाता है कि जय और आचार्य के परस्पर इतने सहमत होने पर भी इला यह क्यों कहती है कि आचार्य जय के मार्ग के बाधक न बनने के लिए ही जेल में बैठे हैं। यह कह देना भी अप्रासंगिक न होगा यदि जैनेन्द्रजी विकास द्वारा राज्य में एक सहयोग-संस्था में परिणत हो जाने की कल्पना करते हैं तो-यह कल्पना मौलिक नहीं, यह कम्युनिस्टों की, साम्यवादियों की कल्पना है जिनके प्रयोगों के वे २००७ ई० तक समाप्त हो चुकने की बात कह चुके हैं।

जो भी हो, उपन्यास में जय राज्य की अनावश्यक, दोषपूर्ण और दमन करने वाली संस्था से मुक्ति का उपाय अपने राजनैतिक दल के स्थान पर एक सर्वदलीय सरकार की स्थापना द्वारा करता है। इस परिवर्तन को हम शासक व्यक्तियों का परिवर्तन ही कहेंगे राज्य-संस्था का अन्त नहीं कह सकेंगे। पंचशील को अपर्याप्त बताकर, युद्ध के अनिवार्य होते जाने की विभीषिका और शस्त्रास्त्र के निर्माण के वेग को रोकने या अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को जिसकी चिन्ता से यह मौलिक उपन्यास लिख गया है, जैनेन्द्रजी भूल ही गये हैं।

आचार्य जेल से मुक्त हो जाते हैं। उनका आश्रम शिवधाम में है। जय सर्वदलीय सरकार की स्थापना के लिए सब दलों की एक सम्मिलित सभा का आयोजन शिवधाम में करता है। स्वामी चिदानन्द और नाथ को ऐसी सभा से विशेष आशा नहीं है परन्तु वे सम्मिलित होना स्वीकार कर लेते हैं। इस सभा का आयोजन हो जाने पर एक नया रहस्य खुलता है—जय सर्वदलीय सरकार की स्थापना हो जाने पर राज्य-भर को त्याग देगा।

शिवधाम में सर्वदलीय सम्मेलन का आरम्भ होने के समय आचार्य, जो इस समय तक अपनी पुत्री इला को जय से विवाह करने की अनुमति नहीं दे रहे थे, अनुमति दे देते हैं किस नवीन तर्क या ज्ञान-लाभ से आचार्य का विचार बदल जाता है। वह उनके शब्दों में यह है—**"इतनी देर तक अपनी अनुमति रोककर मैं आज इस जगह आया हूँ कि जीवन के जनक होने के अधिकार से उस जीवन को स्वयं सम्पूर्ण होने देने से अधिक अधिकार पिता को**

१. पृ० ३२३ पर।

**नहीं पहुँचता।"** जीवन भर अनासक्ति और अकर्म के मार्ग की चिन्ता करके भी यह बात जानने के लिए आचार्य को इतने वर्ष लगे ?

आचार्य की अनुमति न होने के कारण यद्यपि अनेक वर्ष तक जय और इला साथ-साथ रहते रहे, पर उनका विवाह न हो सका। अनुमति तो आचार्य के साथ रहने के लिए भी न थी। अविवाहित इला को साथ रखकर जय अपने प्रति विरोध की भावना के लिए अवसर देता रहा। इला ने यह स्वीकार किया है कि विवाह हो जाने से विरोध मिट जाता, परन्तु जय अपना विरोध मिटा देना या विरोध को निर्बल नहीं कर देना चाहता था केवल इसीलिए उसने इच्छा होने पर भी विवाह नहीं किया। विरोध में रस लेने की इस वृत्ति को उद्भ्रान्ति के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है। इसे अनासक्ति कहें, अकर्म कहें या इसे साधना का कोई और नाम दें ?

यह जानकर कि आचार्य ने इला को जय से विवाह कर लेने की अनुमति दे दी चिदानन्द का भी विरोध समाप्त हो जाता है। सर्वदलीय सम्मेलन में यह रहस्य खुलता है कि जय राज के उत्तरदायित्व से उपराम हो रहा है, तो सभी विपन्न अनुभव करते हैं। सम्पूर्ण विरोध मिट जाता है, सभी जय से राज का उत्तरदायित्व सँभाले रहने का अनुरोध करने लगते हैं परन्तु जय किसी प्रकार राज का उत्तरदायित्व सँभाले रहने के लिए तैयार नहीं होता, क्योंकि उसे तो विरोध में ही रस मिलता है परन्तु इसका कारण वह बताता है—**"मेरा मोह भंग हो गया है। राज्य की अनुरक्ति के लिए कहीं भी तनिक अवकाश नहीं छूटा है, इतनी विरक्ति हो गई है।"**[1]

स्वामी चिदानन्द जय को समझना चाहते हैं—**"राज्य भी एक कर्तव्य है और बिना मोह, बिना आसक्ति, उसका निर्वाह निश्चय ही कोई छोटी तपश्चर्या नहीं है।"** परन्तु जय मोह में फँसे रहना स्वीकार नहीं करता। राज्य के मोह को त्यागकर वह इला से विवाह करना चाहता है और सर्वदलीय सम्मेलन के समय अवकाश पाकर सन्ध्या के अन्धकार और नदी-तट के सूने में एलीजाबेथ के शरीर को अंक में लेकर उसके जूतों की धूल अपने माथे पर लगा लेने की इच्छा के लिए व्याकुलता भी प्रकट करता है, यह जय के माध्यम द्वारा जैनेन्द्र जी के विचार में वह अकर्म है जिसकी—**"महिमा गीता ने बताई है। उस मूल्य की पहचान से भारत का राज्य जब डिगा है, तब कठिनाई हो पैदा हुई है।"**[2]

जय के राजसिंहासन त्याग के निश्चय से सभी लोग द्रवित हो जाते हैं। चिदानन्द तो अपने पूरे बल से उसके समर्थन का आश्वासन देता ही है परन्तु इन्द्रमोहन, जो हूस्टन को पहले दिन ही जय को बिना रीढ़ का आदमी और सम्पूर्ण प्रगति में बाधा बता गया था, जो हूस्टन द्वारा जय की प्रशंसा और ख्याति फैलाने में भी देश और समाज की हानि देखता था और हूस्टन को भारत छोड़ जाने या गोली का निशाना बना दिये जाने की चेतावनी दे गया था, इस स्थिति से विकल हो जाता है। इन्द्रमोहन की सृष्टि कहानी में रहस्य, रोमांच और जासूसी कौतूहल का पुट देने के लिए की गई है। वह राष्ट्राधिप-भवन के पहरों में, चलती ट्रेनों में अनायास ही आ-जा सकता है। वह जब आता है रिवाल्वर साधे बात करता

१. पृ० ३८४।
२. पृ० २६१।

है। जय या हूस्टन को किसी भी समय समाप्त कर देने में उसे विशेष आपत्ति नहीं है। जय इन्द्रमोहन के भय से हूस्टन को राष्ट्राधिप-भवन के निजी कक्षों में रखने का आदेश दे देता है परन्तु जय स्वीकार करता है कि वह इन्द्रमोहन की ही रचना है। वह हूस्टन को इन्द्रमोहन को बुला लाने के लिए भेजता है। हूस्टन महीने-सवा महीने में ही यहाँ जय के कूट रहस्यों और सम्बन्धों का विधाता बन गया है। बम्बई पहुँचकर हूस्टन को इन्द्र का दूसरा परिचय मिलता है। वह इतिहास का शोधक और महा विद्वान् है, उसका बहुत बड़ा निजी पुस्तकालय है, जहाँ वह **"मानवता के उदय के साथ भारत की भाग्यरेखा को तत्सम होते देखने की खोज"** इतिहास और फलित ज्योतिष दोनों के माध्यम से करता है। जय के पद-त्याग से वह इतना विकल हो जाता है कि रिवाल्वर छोड़कर घटनाओं के 'पूर्वदर्शन' के लिए इला और जय की जल-कुण्डलियों को मिलाने में खो जाता है।

जैनेन्द्रजी ने 'समर्पण' में कहा है **"जयवर्धन' पाठक के पास आ तो रहा है पर कह नहीं सकता कितना वह उपन्यास सिद्ध होगा।"** परन्तु रचना पाठकों के सम्मुख मौलिक उपन्यास के रूप में ही प्रस्तुत की गई है। उपन्यास के द्वारा विचारों की अभिव्यक्ति को हम दोष नहीं मानते परन्तु कहानी का विश्वास-योग्य होना पहली शर्त होनी चाहिए। 'जयवर्धन' की कहानी पाठक का विश्वास पाने योग्य नहीं बनी। पहला कारण तो उसमें पृष्ठभूमि की नितान्त कमी है। वह वार्तालापों की डायरी-मात्र है। वार्तालाप विश्वासयोग्य रोचक कहानी नहीं बना सकते ऐसा नहीं कहा जा सकता। रवि बाबू का 'घर और बाहर' उपन्यास उसका अच्छा उदाहरण है। जी० बी० शॉ की तो शैली ही यह थी। कहानी के विश्वास और रोचकता उत्पन्न न कर सकने का कारण पात्रों का निर्जीव और प्रायः एक-सा होना है। आचार्य को गाँधीजी की छाया माना जाय तो उसकी भाषा जैनेन्द्रजी की है, जय पर नेहरूजी की छाया डाली गई है परन्तु उससे अधिक उत्कट उसमें जैनेन्द्र हैं, चिदानन्द में श्री गोलवलकर का आभास है पर उस पर भी जैनेन्द्र छाये हुए हैं। इन्द्रमोहन आतंकवादी है परन्तु जैनेन्द्र-मॉडल का। जैनेन्द्रजी का दार्शनिक और तटस्थ हूस्टन स्वयं जैनेन्द्रजी का प्रतिबिम्ब है। यहाँ तक कि इला भी जैनेन्द्रजी का ही नारी संस्करण है। इन सब पात्रों के सिद्धान्तों, व्यवहार और भाषा में ऐसी समानता है कि प्रायः उनके वाक्य भी एक-से हो गए हैं। पात्रों के एक-दूसरे के सम्पर्क और तुलना में आने पर उनका व्यक्तित्व निखरता है जिससे कहानी सजीव बनती है परन्तु इस उपन्यास में जैनेन्द्रजी ने जैनेन्द्र से जैनेन्द्र को तोला है तो फिर कहीं भी अन्तर कैसे दिखाई देता?

नारी-पात्र दो ही हैं, एक इला और दूसरी एलिज़ाबेथ। इला अनासक्ति और अकर्म की उपासक त्यागमयी भारतीय नारी का प्रतीक है। जय के साथ उसका, पिता की इच्छा के विरुद्ध अविवाहित अवस्था में रहना शायद इसलिए क्षम्य है कि उसने इन्द्रियों का ब्रह्मचर्य निभाया है परन्तु उसके चिदानन्द की अनुगृहीता रहने की बात जय कहता है और इला स्वयं इन्द्रमोहन से किसी रहस्य का संकेत कर देती है। एलिज़ाबेथ तो है ही हंगेरियन, पतिपरायणता और संयम की आशा उससे क्या की जाय? पर वास्तव में वह कहीं स्पष्ट, निष्ठावान और रीढ़ वाली बन पड़ी है, शायद इसलिए कि लेखक ने उस पर अपनी अनुकम्पा की छाया नहीं डाली। पूरे उपन्यास में नाथ और एलिजाबेथ ही दो पात्र हैं जो

कहानी में तो कम आते हैं पर उनका अपना व्यक्तित्व है।

जैनेन्द्रजी ने प्रारम्भिक की अन्तिम पंक्तियों में इस बात के लिए क्षमा-याचना कर ली है कि पुस्तक को विधिवत् उपन्यास का रूप नहीं मिल सका। उन्होंने इसे दुनिया को राजनीति के संकट से उबारने और राज के इस या उस रूप को स्वीकार करने की विवशता के संकट से त्राण देने के सुझाव के लिए प्रस्तुत किया है। राज्य के सभी रूपों को संकट समझकर उससे त्राण पाने के विचार मानव-समाज के लिए नितान्त नई वस्तु नहीं हैं। पूँजीवाद और राज्य-सत्ता के दमन की प्रतिक्रिया के रूप में आज से सौ वर्ष पहले भी विचारकों ने मानव-समाज की मुक्ति के लिए अनार्किज्म ( अराजकवाद ) के सिद्धान्तों की कल्पना की थी। यह विचारक ( क्रोपेटकिन आदि ) राज्य को व्यक्तिगत सम्पत्ति की संस्था और उसी-की प्रशाखा-श्रेणियों की परस्पर होड़ का ही विकसित रूप मानते थे। समाज को राज्य के दमन से मुक्त करने के लिए सम्पत्ति का समाजीकरण पहला कदम मानकर मानव-समाज को उत्पादन के साधनों के साझे स्वामी और श्रेणीगत होड़ से मुक्त कर एक विस्तृत कुनबे के रूप में परिवर्तित हो जाने की कल्पना वे करते थे। वे राज्य को समाज का दमन इसलिए समझते थे कि राज्य एक वर्ग-विशेष का अधिकार और शेष समाज का दमन था। उनके विचारों का लक्ष्य वर्गों के अन्तर मिटाकर राज्य को सामूहिक हित की दमन-रहित व्यवस्था-मात्र बना देना था। कम्युनिस्ट भी अपनी प्रणाली के उत्तरोत्तर विकास में राज्य या शासन के दमनकारी अंश के विलयन हो जाने का विश्वास करते हैं।

अराजकवाद एक सामाजिक समस्या है। जैनेन्द्रजी ने भी दुनिया को राज के संकट से त्राण देने के लिए ही पुस्तक लिखी है। जय भी अनेक स्थानों पर ऐसा ही विचार प्रकट करता है। **"सोचता था राज के जरिए उसके होने की आवश्यकता से समाज को मुक्त कराने की राह कुछ सुगमता से प्रशस्त की जा सकेगी, वह भ्रम सिद्ध हुआ"** पद-त्याग करते समय भी वह कहता है— **"राज्य को एक दिन अनावश्यक बनाना है"**[1] परन्तु उसका अन्तिम निर्णय है— **"अन्त में जब मुझे यह मालूम हुआ कि मेरा दायित्व राज्य और लोक-कल्याण के प्रति जितना है उससे अधिक और प्रथम स्वयं अपने अन्तःकरण के प्रति है तो देखा कि मेरा असमंजस कट गया।"**[2] जय को जो-कुछ मालूम हुआ उससे दुनिया के राज्य के संकट और युद्धों की अनिवार्यता के त्रास से मुक्त हो सकने का क्या सम्बन्ध है? यह सामाजिक समस्या की उपेक्षा करके स्वरति की प्रवृत्ति में सन्तुष्ट हो जाना है या यह अनुमान करना होगा कि अराजकी अवस्था प्राप्त करने के सामाजिक लक्ष्य का उपाय जैनेन्द्रजी ने यह व्यक्तिगत साधना बताई है कि जयवर्धन को आदर्श मानकर कोई भी व्यक्ति राज्य का उत्तरदायित्व लेने के लिए प्रस्तुत न हो तो राज्य की संस्था स्वयं विलीन हो जायगी? यह जयवर्धन के विचार पक्ष की प्रतिपत्ति है।

'जयवर्धन' पर इतने विचार की आवश्यकता इसलिए है कि 'परख', त्याग पत्र', 'कल्याणी' आदि जैनेन्द्रजी की आरम्भिक रचनाएँ सफल थीं और उनमें प्राप्त सफलता से अधिक जैनेन्द्रजी की सम्भावनाओं का संकेत था। उन रचनाओं के सफल होने का कारण

१. पृष्ठ ४२५।
२. पृष्ठ ४२४।

जैनेन्द्रजी का पर्याप्त यथार्थ के आधार पर उन सामाजिक तत्त्वों को लेकर रचना करना था जिनका परिचय उन्हें अपने नित्य के जीवन से था। 'जयवर्धन' में उन्होंने दर्शन, राजनीति समाज-शास्त्र और अर्थशास्त्र के प्रसंगों के लेने की इच्छा की है जो स्पष्ट ही उनकी पकड़ के बाहर है। उन्हें यथार्थ का आधार कहीं भी नहीं मिला है।

जैनेन्द्रजी की विचार और कलात्मक शक्ति का परिचय इस खोखली रचना में भी जहाँ-तहाँ मिल सकता है। प्रसंग और वस्तु के सम्पर्क के बिना भी जहाँ-तहाँ विचारपूर्ण सूक्तियाँ आ गई हैं यथा—**"ईश्वर नहीं हो सकता जो मानव से विमुख हो, है तो वह मानव से। मानव से परे जो अपने लिए टिकाव चाहता है वह अविचार है"** इस दृष्टि से जय के व्यवहार को क्या कहा जाय? **"भारत में इसीको साधना मान लिया गया है कि यथार्थ को आदर्श से दाबे रखा जाय।" "आदमी में क्या सिद्धान्त ही सब-कुछ होता है? क्या वह एक गाँठ नहीं जिसे हम खुद कस लेते हैं और सिद्धान्त का नाम दे देते हैं?" "क्या वह लकीर ही नहीं जिससे स्वदेश और विदेश बन जाते हैं और जिस पर युद्ध होते हैं, लकीर भी नक्शे पर, असल में कहीं नहीं। फिर आदमी अपना और दूसरों का रक्त उत्सव और उल्लास के साथ बहाते हैं।" "प्रेम की गति न्यारी है, सुख उसमें नहीं है, पर जो दुःख है सुख के सुख से बड़ा है।" "विरह केवल पार्थक्य नहीं, मन का घनिष्ठ पीड़ी सम्बन्ध है।" "इन्द्रिय-व्यापार की न्यूनता की साधना में से परिपूर्णता न सधेगी।"** आदि आदि।

'जयवर्धन' पढ़ने के श्रम को उसकी भाषा और भी कठिन कर देती है। भाषा सामाजिक अभिव्यक्ति का साधन है। उसे सुलभ और सुबोध बनाए रखने के लिए ही व्याकरण की आवश्यकता हुई है। भाषा के अन्य प्रयोगों और नियमों की अवहेलना अहं और स्वरति की उच्छृङ्खलता-मात्र है। यदि नागरिकता के साधारण नियमों—उदाहरणतः सड़क पर चलने के नियमों का पालन सामाजिकता के नाते आवश्यक है तो भाषा के नियमों की ही अवहेलना क्यों की जाय। जैनेन्द्रजी ने जन-साधारण की भाषा को ठुकराने के लिए भाषा के साथ जो मनमानी और अत्याचार किया है, उसके उदाहरण ऊपर दिये गए उद्धरणों की पंक्तियों में पर्याप्त देखे जा सकते हैं।

---

१. पृष्ठ १२।

*गंगाधर झा*

## एण्टन चेखव (१८६०–१९०४)

एण्टन चेखव का जीवन दस्तोएवस्की और मैक्सिम गोर्की के जीवन के समान घटनापूर्ण नहीं है। वास्तव में उनके जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना उनकी विशिष्ट प्रतिभा और कलात्मक सृजनशीलता है। फिर भी उनके कृतित्व को समझने के लिए जितना यह आवश्यक है कि हम उनके समय के रूस को जानें, उनके व्यक्तित्व को जानना उससे कम आवश्यक नहीं। इस विषय में हमें स्वयं चेखव द्वारा लिखित एक आत्म-जीवनी-मूलक टिप्पणी प्राप्त है जो यदि अधिक सूचनाप्रद नहीं तो विशेषत्व-व्यञ्जक अवश्य है। यह टिप्पणी उन्होंने अपनी आत्म-जीवनी के एक जिज्ञासु को पत्र के रूप में लिखी : **"मेरी आत्म-जीवनी ? मुझे एक रोग है जिसे आत्म-जीवनी-त्रास कहते हैं। अपने विषय में कोई विवरण पढ़ना मेरे लिए वास्तविक उत्पीड़न है, उसे प्रकाशन के लिए तैयार करना तो दूर की बात है। एक अलग कागज पर मैं आपको कुछ अत्यन्त नग्न तथ्य भेज रहा हूँ, और उससे अधिक मैं आपको प्रदान नहीं कर सकता।....."** उल्लिखित तथ्य इस प्रकार अंकित हैं : **"मेरा नाम ए० पी० चेखव है और मेरा जन्म १७ जनवरी, १८६० को टागनरोग में हुआ था। मेरी शिक्षा 'एम्परर कॉन्स्तेन्ताइन चर्च' से संलग्न ग्रीक स्कूल से आरम्भ हुई, जिसके पश्चात् मैंने टागनरोग के लड़कों के स्कूल में प्रवेश किया। १८७९ में मैं मास्को विश्वविद्यालय के मेडिकल स्कूल में भरती हुआ। उस समय मुझे विभिन्न शिक्षण-क्रमों के विषय में केवल धुँधला ज्ञान था और मुझे स्मरण नहीं कि किन विचारों ने मुझे आरोग्य-विज्ञान चुनने के लिए अग्रसर किया, किन्तु उस चुनाव के लिए अब मुझे कोई खेद नहीं है। विश्वविद्यालय के प्रथम वर्ष में ही मैंने साप्ताहिक और दैनिक पत्रों में वस्तुएँ प्रकाशित करना आरम्भ कर दिया था और १८८० के आस-पास इन साहित्यिक प्रयासों ने एक नियमित, व्यावसायिक स्वरूप धारण कर लिया था। १८८८ में मुझे 'पुश्किन पारितोषिक' प्रदान किया गया। १८९० में सखेलिन द्वीप-स्थित अपने अपराधी उपनिवेश और बन्दीगृह-व्यवस्था पर एक पुस्तक लिखने के लिए मैंने वहाँ की यात्रा की।... ( विविध अन्य वस्तुओं के अतिरिक्त ) बीस वर्ष के साहित्यिक कार्य में मैंने ४८०० पृष्ठों से अधिक की कहानियाँ लिखीं और प्रकाशित कराईं। मैंने रंगशाला के लिए नाटक भी लिखे हैं।"**

**"आरोग्य विज्ञान में मेरे कार्य ने असन्दिग्ध रूप से मेरे लेखन को प्रभावित किया; निश्चय ही उसने मेरे निरीक्षण के क्षेत्र को विस्तृत बनाया और मेरे ज्ञान को समृद्ध किया, और केवल वही इस शिक्षा का महत्त्व बतला सकता है जो स्वयं एक डॉक्टर है। मेरी**

**आरोग्य-विज्ञान की पृष्ठभूमि मेरे लिए पथ-निर्देशक भी रही है; उसके कारण सम्भवतः मैं अनेक त्रुटियों के निवारण में समर्थ हुआ हूँ। प्राकृतिक विज्ञानों और वैज्ञानिक विधियों से परिचय ने सदा मुझे सतर्क रखा है, और यथासम्भव मैंने वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर लिखने का प्रयास किया है; जहाँ यह असम्भव था, वहाँ मैंने न लिखना ही श्रेयस् समझा। वैसे मैं यह संकेत दे दूँ कि कला की आवश्यकताएँ मुझे सदा वैज्ञानिक तथ्यों के पूर्ण सामञ्जस्य में लिखने का अवसर नहीं देतीं; रंगमंच पर आप विष द्वारा मृत्यु को ठीक उस रूप में प्रदर्शित नहीं कर सकते जिस प्रकार वह होती है। किन्तु ऐसी स्थिति में भी वैज्ञानिक तथ्यों के अविरुद्ध होना आवश्यक है, अर्थात् पाठक अथवा दर्शक को स्पष्ट रूप से यह अनुभव होना चाहिए कि जो कुछ प्रदर्शित किया गया है उसके लिए कतिपय रूढ़ियाँ उत्तरदायी हैं और उसका सम्पर्क एक ऐसे लेखक से है, जो जानता है कि वह किस विषय की बात कर रहा है। मैं साहित्यिकों के उस दल में नहीं हूँ जो विज्ञान के प्रति शंकालु दृष्टि रखते हैं; और मैं उनके साथ सम्मिलित नहीं होना चाहूँगा जो प्रत्येक विषय का निरूपण विशुद्ध रूप से अपनी सहज बुद्धि के आधार पर करते हैं।"**

स्पष्ट ही उपर्युक्त वक्तव्य एक ऐसे व्यक्ति का उद्गार है, जिसकी रुचि अपनी प्रशस्ति में न होकर अपने उद्देश्य और कार्य में है। प्रशस्ति से यह वितृष्णा इसकी द्योतक है कि लेखक प्रत्येक प्रकार के आवरण से उन्मुक्त विशुद्ध आन्तरिक तथ्य के अनुशीलन का अभ्यस्त है। जहाँ वह कला की अपनी आवश्यकताओं की बात करता है, वहाँ कला की अपनी स्वतन्त्र स्थिति, उसके स्वतन्त्र स्वरूप और प्रयोजन की स्वीकृति सन्निहित है। किन्तु विज्ञान को कला के अनिवार्य सहायक के रूप में वह अवश्य देखता है। उसके द्वारा कलाकार के निरीक्षण का क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है और ऐसी बातों से वह बच जाता है जो अवैज्ञानिक हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि विज्ञान के द्वारा लेखक अधिक यथार्थमूलक होता है; वह अपनी संवेदनशीलता को व्यापक और परिष्कृत बनाता है। सन्निहित अर्थ यह भी है कि कला में संवेदनशीलता मुख्य तत्त्व है, निराधार कल्पना नहीं।

चेखव जिस युग में कार्य कर रहे थे उसके अनेक पक्षों का प्रभाव उन पर पड़ना स्वाभाविक था। रूस के लिए वह गहरी सामाजिक और राजनीतिक उथल-पुथल का युग था। अनेक प्रकार की विचार-धाराएँ वहाँ प्रवाहित थीं और अनेक प्रकार के आदर्श जनता के समक्ष उपस्थित किये जा रहे थे। इनका प्रभाव तत्कालीन प्रमुख लेखकों में भी दिखाई देता है। तॉल्सतॉय यदि नैतिक और सामाजिक आदर्शों की प्रतिष्ठा अपनी साहित्य-सृष्टि में कर रहे थे तो गोर्की मार्क्सवादी दर्शन और राजनीतिक आदर्श को प्रेरणा बनाकर साहित्य-सृष्टि में संलग्न हो रहे थे। उस युग में एक भी ऐसा महत्त्वपूर्ण व्यक्ति खोजना कठिन है, जिसके सुनिश्चित सामाजिक और राजनीतिक आदर्श न हों, किन्तु चेखव के लिए यही बात सत्य दिखाई देती है। प्रत्यक्षतः अपने समय के किसी राजनीतिक आन्दोलन में उन्होंने अभिरुचि प्रकट नहीं की और न तॉल्सतॉय के समान किसी उपयोगितावादी आदर्श को ही उन्होंने अपनाया। कहा जाता है कि उनका कोई राजनीतिक दृष्टिकोण ही न था, यद्यपि परवर्ती काल में वामदलीय विचारों की ओर उनका कुछ झुकाव दिखाई दिया। पश्चिम में उनकी जो प्रतिष्ठा है उसके अनेक कारणों में से एक कारण यह भी है कि उन्होंने राजनीतिक

उद्देश्यों से मुक्त विशुद्ध कला की सृष्टि की और इस प्रकार अपनी रचनाओं में प्रचारवादिता का दोष नहीं आने दिया। उन्होंने अपने युग के जीवन का रञ्जना-रहित रूप देखा और सहानुभूतिपूर्वक उसे अंकित किया। अतएव उनकी कृतियों में सच्चे रूस के दर्शन होते हैं। किन्तु क्या वास्तव में चेखव के कोई आदर्श नहीं थे? ऐसा नहीं कहा जा सकता। कला के क्षेत्र में वे प्रकृतिवादी मान्यताओं को अपनाकर चले और जीवन के प्रति एक बौद्धिक विश्लेषण और सहानुभूति का सम्मिलित दृष्टिकोण उन्होंने रखा। अपने युग की दुर्बलताओं से उनके मन में भी वितृष्णा जागी और उनके अनेक पात्रों ने अपने समय से दो-तीन शताब्दी पश्चात् ऐसे रूस की कल्पना की है जिसमें जीवन अधिक समृद्ध होगा। तॉल्सतॉय यदि किसान में त्राण का मन्त्र खोजते थे और गोर्की मजदूर में, तो चेखव बुद्धिमान मनुष्य और ज्ञानोदय को विकास का सूत्र समझते थे। इसीलिए शिक्षक के प्रति उनके हृदय में अपार ममता थी। अपने युग के जीवन को वे कुण्ठित, उद्देश्यविहीन और अभावग्रस्त रूप में देखने थे तथा कोई ऐसा आधार उन्हें दिखाई न देता था, जिस पर वे आशा प्रतिष्ठित कर सकें। इससे संकेत मिलता है कि दूसरों के साथ वे यहाँ तक सहमत थे कि रूस रुग्ण है किन्तु उनके बतलाये हुए उपचारों पर उनकी आस्था न थी। अतएव उदासी का जो वातावरण उतकी कृतियों में व्याप्त पाया जाता है वह निराशावादिता का परिणाम न होकर एक ऐसे व्यक्ति का निष्कर्ष प्रतीत होता है, जो सब-कुछ समझता है और जानता है कि दुर्बलता कहाँ है, किन्तु तथ्यों पर अपनी आकांक्षाओं को आरोपित करना जिसे प्रिय नहीं। जिस रूस का चित्रण चेखव ने किया वह विगलनशील, सामन्तवादी और प्रान्तीय रूस है—रूस का वह वर्ग, जो अपने ह्रास और आसन्न-विनाश को देखता है, जो संकीर्ण दायरे में बँधकर सड़ रहा है किन्तु अपने उद्धार की युक्ति जिसे ज्ञात नहीं। ऐसे वर्ग के चित्रण में लेखकों ने साधारणतः व्यंग्य और आक्रोश की शैली का उपयोग किया है किन्तु चेखव व्यंग्य करते हुए भी उन मनुष्यों के साथ अपनी मानवीय सहानुभूति नहीं खो पाए। जिसके प्रति वे व्यंग्य करते हैं उसकी पीड़ा को भी वे पहचानते हैं। स्वाभाविक है कि उनकी कृतियों में उदासी का वातावरण दिखाई देता है। किन्तु जो इस वातावरण में रमने के लिए चेखव की कृतियों का अनुशीलन करते हैं वे कुछ रुग्ण मानस के और दुःख के प्रेमी व्यक्ति हैं। यह वातावरण वास्तव में उन तथ्यों का प्रतीक है जिनका चित्रण चेखव की रचनाओं में हुआ है। उस मूल वस्तु तक न पहुँचकर प्रतीक में ही उलझ जाना, पढ़ने की गलत विधि का उत्तम उदाहरण है।

यूरोप में वह कला के एक नये आन्दोलन का युग था, जिसका प्रभाव रूस के लेखकों पर भी पड़ा। विज्ञान की अभूतपूर्व प्रगति ने एक नये दृष्टिकोण को जन्म दिया। उसकी सिद्धियों के फलस्वरूप अनेक पुरातन आस्थाएँ जड़ से ढह गईं। उस प्रवृत्ति का उदय हुआ जो केवल उसे स्वीकार करती है, जो प्रमाण-सिद्ध है। साहित्य-चिन्तन पर भी इसका प्रभाव पड़ा। स्वच्छन्दतावाद की कल्पनाशीलता, भावनामयता और आदर्शवादिता को त्यागकर डार्विन के विकासवाद के आधार पर मनुष्य और जगत् के चित्र को साहित्य में लाने के प्रयास हुए। वह युग कैसे काल्पनिकता में मुँह छिपा सकता था, जो विज्ञान के सजीव चमत्कार के अभिमुख था! अतः यथार्थवाद और प्रकृतिवाद की धारा प्रवर्तित हुई। प्रथम सिद्धान्त तटस्थता

का था, अर्थात् साहित्यकार की स्थिति एक दर्शक की है और एक विशुद्ध दर्शक के समान वैज्ञानिक वस्तुमूलकता के साथ उसे अपने निरीक्षण का निरूपण करना चाहिए। उसे अपने मत और अपने विचार उसमें सन्निविष्ट करने का अधिकार नहीं। ऐसा करने से तो कला यथार्थ से च्युत हो जायगी। अतएव चेख़व के वक्तव्य में जहाँ हम कला की विज्ञाना-श्रयिता को मान्य पाते हैं वहाँ वे यूरोप के उल्लिखित आन्दोलन के साथ हैं।

चेख़व के पूर्व, रूस में यथार्थवाद की एक विशेष परम्परा बन चुकी थी। गोगल और तॉल्सतॉय इत्यादि उसके पुरस्कर्ता थे। यह यथार्थवाद विशुद्धतः कुत्सित और विरूप के चित्रण में सन्निहित नहीं था। मनुष्य के प्रति एक विशेष करुणा और सहानुभूति का समावेश भी उसमें था। मानववाद की यह धारा चेख़व में भी अक्षुण्ण और विशेष प्रबल दिखाई देती है। यथार्थवाद के नाम पर यूरोप में तुच्छ तथ्यों को भी महत्त्व मिला, किन्तु चेख़व तुच्छता के परम शत्रु थे। वे सतही वस्तुओं को हटाकर आन्तरिक सार्थकता के उद्घाटन के लिए प्रयत्नशील रहते थे। पश्चिम में तो कुछ ऐसे भी उत्साही हुए, जिन्होंने चयन को कलाकार के लिए वर्जित माना; क्योंकि चयन लेखक के मत का संकेतक है और रचना में लेखक के मत का प्रवेश यथार्थवादी फतवे के अनुसार निषिद्ध है। किन्तु मोपासाँ के समान चेख़व में भी हम एक-एक शब्द के चयन और तथ्य के संयोजन में आत्यन्तिक श्रमशीलता पाते हैं। प्राकृतिकता अथवा स्वाभाविकता से वे यह अर्थ लेते नहीं दीखते कि कलाकृति पूर्णतया प्रकृति की प्रतिकृति हो, प्रत्युत उनका प्रयोजन एक ऐसी शैली का निर्माण प्रतीत होता है, जो किसी प्रकार का झटका दिये बिना अथवा भावनात्मक हुए बिना कृति को पाठक के समक्ष इतनी सहजता से प्रस्तुत करे कि उसमें किसी प्रकार की कला अथवा प्रयत्न का आभास न हो। संक्षेप में चेख़व का उद्देश्य जीवन के वास्तविक स्वरूप को एक नये कला-रूप में अभिव्यक्त करना था।

चेख़व के पितामह एक 'सर्फ़' थे। बहुत परिश्रम से धन बचाकर उन्होंने अपनी और अपने परिवार की स्वतन्त्रता खरीदी। इस विरासत से पूर्ण बौद्धिक स्वतन्त्रता के धरातल पर उन्नयन के लिए चेख़व ने प्रयास किया। एक पत्र में वे लिखते हैं—"**एक व्यक्ति के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि वह प्रौढ़ हो, और इसके आगे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की भावना भी अपरिहार्य है—वह भावना जो अभी हाल में ही मुझमें स्फुरित होनी आरम्भ हुई है। इसके पूर्व उसके स्थान पर मेरे पास जो-कुछ था वह अगम्भीरता, लापरवाही और अपने कार्य के लिए आदर का अभाव है। भद्र वर्ग के लेखकों को जो-कुछ प्रकृति से अनायास प्राप्त था वह हम दूसरों को अपने यौवन के मूल्य पर खरीदना पड़ता है। एक कहानी लिखिए कि किस प्रकार एक युवक, एक दास का पुत्र, जिसने एक दुकान में नौकरी की है, एक गायक-दल के साथ गया है, और माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा प्राप्त की है, जिसे बचपन से पदवी और पद का आदर करने की, धार्मिक आचार्यों का हाथ चूमने की, दूसरों के विचार के समक्ष झुकने की, रोटी के हर टुकड़े के लिए धन्यवाद कहने की शिक्षा मिली है; जो बहुधा कोड़ों से पीटा गया है, जो बिना जूतों के एक विद्यार्थी से दूसरे विद्यार्थी के पास थका हुआ घूमा है; जो लड़ाई और पशुओं के पीड़न का अभ्यस्त रहा है, जो धनी सम्बन्धियों द्वारा भोजन पर निमन्त्रित होने पर प्रसन्न हुआ है और बिना आवश्यकता के केवल अपनी नगण्यता**

**की चेतना से जिसने ईश्वर और मनुष्यों के समक्ष छलपूर्ण व्यवहार किया है—लिखिए कि किस प्रकार यह युवक बूँद बूँद करके उस सीमा तक अपने अन्दर के दास को निचोड़कर अलग कर देता है जहां एक सुन्दर प्रभात में जागकर वह अनुभव करता है कि उसकी शिराओं में अब दास का खून नहीं किन्तु एक वास्तविक मनुष्य का खून बह रहा है।''** स्पष्ट है कि चेख़व की कला उनके इस सचेत व्यक्तित्व-निर्माण से गम्भीर रूप में प्रभावित है। उसमें उनकी बौद्धिक स्वतन्त्रता और प्रौढ़ता की अभिव्यञ्जना हुई है।

चेख़व के पिता संगीत-प्रेमी थे और बच्चों को उस कला में शिक्षित करने के उत्साही थे। बचपन में धर्म की अनिवार्य शिक्षा से चेख़व को बाद में उसके विरुद्ध होने में सहायता मिली। टागनरोग में चेख़व के पिता ने एक दुकान खोल रखी थी, किन्तु १८७६ में वे दीवालिया हो गए। इसके पश्चात् उनका परिवार मास्को चला गया। मास्को में आरोग्य-विज्ञान के अध्ययन के साथ चेख़व पर यह उत्तरदायित्व भी आ पड़ा कि अपने साथ वे अपने परिवार का निर्वाह भी करें। यह उत्तरदायित्व उन पर प्रायः आजीवन बना रहा। उसकी पूर्ति के लिए उन्होंने विश्वविद्यालय के प्रथम वर्ष से ही लिखना आरम्भ कर दिया, उनकी आरम्भिक कृतियाँ हास्य और विनोद की कृतियाँ हैं। उनमें से अधिकांश विदेशी भाषाओं में अनूदित नहीं हैं। जब आरोग्य-विज्ञान की उनकी शिक्षा सम्पन्न हो गई तब एक कहानी-लेखक के रूप में उनकी कुछ प्रतिष्ठा बन चुकी थी और इस प्रकार उनके भावी व्यवसाय का स्वरूप एक प्रकार से निर्धारित हो चुका था। डाक्टरी व्यवसाय उन्होंने बहुत थोड़े समय तक किया और बाद में उसे त्याग ही दिया। सम्पूर्ण शक्ति से वे लेखन-कार्य मे लग गए। १८८६ में उनकी हास्यरस की कहानियाँ पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुईं। जनता ने खुले हृदय से इस संकलन का स्वागत किया, किन्तु समीक्षकों ने उसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया। उपन्यासकार ग्रिगोरोविच और प्रसिद्ध पत्रकार सुवोरिन ही दो ऐसे व्यक्ति थे जो उसके आधार पर चेख़व की ओर आकृष्ट हुए। सुवोरिन ने चेख़व को अपने पत्र में लिखने के लिए आमन्त्रित किया। शीघ्र ही चेख़व और उनमें घनिष्ठ मैत्री स्थापित हो गई और चेख़व को 'महत्साहित्य' में स्थान मिल गया। उन्होंने हास्य की रचनाएँ लिखना छोड़ दिया और अपनी उस शैली के निर्माण में संलग्न हो गए जिसके लिए वे प्रसिद्ध हैं। यह परिवर्तन १८८६-७ में लिखी गई उनकी कहानियों में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। एक कहानीकार के रूप में चेख़व की यह विशेषता है कि बहुत क्षिप्र गति से वे चोटी पर पहुँचे और उसके पश्चात् उनका महत्त्व और सम्मान बढ़ता ही गया।

उपन्यासकार के विषय में कहा गया है कि सफल सृष्टि के लिए उसे अपने अनुभव की सीमा के बाहर नहीं जाना चाहिए। वास्तव में यह समस्त कला-सृष्टि के लिए महत्त्वपूर्ण निर्देश है। चेख़व ने पूर्णतया इस निर्देश का पालन किया है और अपनी कला-सृष्टि अपने अनुभव के आधार पर की है। यहाँ हम उनके कतिपय अनुभवों और उन पर आश्रित कृतियों का उल्लेख कर देना चाहते हैं। बचपन में उन्होंने अपने पिता की कठोर प्रकृति का अनुभव किया और इसका विवरण 'डिफीकल्ट पीपुल' नामक कहानी में अंकित है। मास्को में जिन कठिन परिस्थितियों में उनके परिवार ने जीवन-यापन किया वह 'द ओल्ड हाउस' में अंकित है। १८८४ में चेख़व मास्को प्रान्त के एक छोटे-से शहर में अपने भाई के साथ अवकाश-काल व्यतीत करने के लिए गये।

वहाँ स्थित सेना के अफसरों और उनके परिवारों से शीघ्र उनकी मैत्री स्थापित हो गई। इस अनुभव का चित्रण 'थ्री सिस्टर्स' में है। १८८७ में स्वास्थ्य की दृष्टि से उन्होंने दक्षिण रूस की यात्रा की। इस यात्रा-काल में उन्होंने बहुत-से प्रभाव ग्रहण किए। इनके आधार पर उनकी 'द स्टेपी', 'द पेशेन्येग', 'हैप्पीनेस' इत्यादि कहानियाँ निर्मित हैं। १८६० में उन्होंने सायबेरिया को पार करते हुए सखेलिन द्वीप की यात्रा की और 'सखेलिन द्वीप' नामक पुस्तक लिखी। यह ४०० पृष्ठों में उनके उस अनुसन्धान का स्पष्ट विवरण है जो अपराधी उपनिवेश में उन्होंने किया। इसमें अनेक लक्षणीय तथ्य हैं, किन्तु ऐसा कुछ भी नहीं जो उत्तेजक हो। इसके प्रभावस्वरूप शासकों ने कुछ सुधार भी किए। इस यात्रा का प्रभाव केवल उनकी 'गुसेव' और 'इन एक्जाइल'-जैसी कहानियों में नहीं दिखाई देता, प्रत्युत उसके द्वारा उनके मानसिक क्षितिज का विस्तार हुआ।

चेखव का महत्त्व केवल यह नहीं है कि एक कहानीकार और एक नाटककार, दोनों रूपों में वे उत्कृष्ट कोटि की कृतियाँ प्रस्तुत कर सके, किन्तु यह भी है कि दोनों क्षेत्रों में वे नये कला-रूप और नई शैली के प्रवर्त्तक थे। उनकी कृतियों के विवरण में हम प्रथम उनकी कहानियों को लेते हैं। जिस प्रकार मोपासाँ की प्रशस्ति है कि कहानी को उन्होंने महत् साहित्य में गौरव के स्थान पर प्रतिष्ठित किया, उसी प्रकार उस उपलब्धि के लिए चेखव भी प्रशंसित हैं। विकास की दृष्टि से चेखव की कहानियाँ समीक्षकों द्वारा तीन अवधियों में विभाजित की जाती हैं। प्रथम अवधि का विस्तार आरम्भ से लेकर १८८६ तक है। इस समय की उनकी रचनाएँ साधारण कोटि की प्रान्तीय हास्य-पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुईं। शिष्ट और बौद्धिक वर्ग के पाठकों का परिचय चेखव की परवर्ती कृतियों से है, किन्तु रूस के जन साधारण में चेखव विशेषतः इन आरम्भिक कहानियों के आधार पर जाने जाते हैं। ऐसी कहानियाँ अंग्रेजी में प्रायः अनूदित नहीं हैं। इसे हम विदेशी अभिरुचि का संकेत मान सकते हैं। इन कहानियों की विशेषता का निरूपण मिर्स्की ने इन शब्दों में किया है : '**जिन विनोदात्मक पत्रों में चेखव लिखते थे वे किसी अर्थ में उच्च धरातल के नहीं थे। उनका हास्य अश्लील और अर्थहीन था।....उनमें (उन पत्रों में) प्रत्युत्पन्न मति, संयम और सुरुचि का अभाव था। वह केवल तुच्छ भंडैती थी, और चेखव की कहानियां उनकी सामान्य पृष्ठभूमि से कोई लक्षणीय भिन्नता नहीं रखतीं। एक उच्चतर कोटि के शिल्प के अतिरिक्त वे शेष से अभिन्न हैं। उनका प्रधान स्वर मानव-जाति की दुर्बलताओं और मूर्खताओं के प्रति उपहास है। उनमें उस मानवीय सहानुभूति और उच्चतर हास्य का संकेत खोजने के लिए तीक्ष्ण दृष्टि वाले समीक्षक से भी किसी अधिक की आवश्यकता है, जिससे चेखव की प्रौढ़ कृतियों के पाठक इतने सुपरिचित हैं।........किन्तु उनमें से जो सबसे अधिक अनगढ़ हैं उनमें भी चेखव एक उच्चकोटि के शिल्पकार के रूप में स्पष्ट लक्षित होते हैं, और साधन की मितव्ययता में (उनकी भावी उच्च कृतियों की) आशा झलकती है।**"

१८८६ से १८८८ तक परिवर्तन-काल है जिसमें अन्य अनेक तत्त्वों के मध्य उनकी वह शैली स्पष्ट उभरकर चलती है जिसके लिए वे इतने प्रसिद्ध हैं। उनके गीतिमय शिल्प का संकेत तो उनकी आरम्भिक कृतियों से ही मिलने लगता है। इस मध्य-काल में अनेक तत्त्व हैं जिनमें उस समय तक पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित नहीं हो पाया था। विभिन्न कहानियों में

विभिन्न तत्वों की विशेषता परिलक्षित होती है। मिर्स्की के विश्लेषण के अनुसार **"वर्णनात्मक पत्रकारिता ('अपरूटेड' में), शुद्ध चुटकुला, शुद्ध व्यंग्य ('द फर्स्ट क्लास पॅसेन्जर') करुण और हास्य का मार्मिक मिश्रण (वंका), वातावरण की गीतिमय अभिव्यञ्जना ('द स्टेपी', 'हैप्पीनेस'), रुग्ण मानस के अनुभव का मनोवैज्ञानिक अध्ययन ('टाइफस')........"** इत्यादि ऐसे तत्त्व हैं। विभिन्न कहानियों में हम विभिन्न मनोदशाओं की प्रबलता देखते हैं।

उनके कृतित्व का मूल सूत्र है मनुष्य और मनुष्य के बीच में परस्पर संवेद्यता का अभाव, एक व्यक्ति के लिए दूसरे के साथ सस्वर होने की असम्भवता। मनुष्य और मनुष्य के आन्तरिक व्यक्तित्व के बीच में गहरी खाई है। समस्त सम्पर्क ऊपरी और अवैयक्तिक धरातल पर ही आश्रित हैं, किन्तु एक-दूसरे के मन तक कोई नहीं पहुँचता। प्रत्येक का वास्तविक जीवन असम्पृक्त और एकाकी है। परस्पर सम्वेदना के इस अभाव के आश्रय से चेखव अपने प्रत्येक पात्र को एक सी सहानुभूति से निरूपित करने में समर्थ होते हैं, और उसके कारण ही उसकी रचनाओं में उदासी का वातावरण प्राप्त होता है। इस काल की इस विशेषता से युक्त उनकी 'द प्रिवी काउंसिलर', 'द पोस्ट', 'द पार्टी' और 'द प्रिन्सेस' इत्यादि कहानियाँ हैं किन्तु इस युग की उनकी विशिष्ट कृतियाँ 'द स्टेप', 'हैप्पीनेस' और 'द हार्स स्टीलर्स' हैं। मिर्स्की के शब्दों में **"वे विविध-स्वर-युक्त विशाल संगीत के रूप में संयोजित हैं। अन्ध-विश्वास, अन्धकारमय और शून्य स्टेपी (शस्य-क्षेत्रों) की छायाकृतियों के समक्ष अस्पष्ट भय, स्टेपी के किसान-जीवन के दारिद्र्य की गहरी अरोचकता, और उस सुख की एक अस्पष्ट आशा जो शैतानी शक्तियों की सहायता से किसी पुरातन गुप्त कोश में खोजा जा सकता है इन कहानियों का प्रधान स्वर है।"** 'द स्टेप' इनमें केन्द्रीय है। उसके प्रकाशन के पश्चात् चेखव स्वयं को एक व्यावसायिक लेखक समझने लगे, और यद्यपि क्षणिक कठिनाइयाँ बहुधा उपस्थित हो जाती थीं तथापि उनकी आर्थिक स्थिति अब पर्याप्त सँभल गई थी। 'द स्टेप' में एक बालक की अपने ग्राम से अनन्त स्टेप में एक सुदूर नगर की लम्बी, एकतान और घटना-शून्य यात्रा अंकित है। 'हैप्पीनेस' में स्टेप की रात्रि का एक दृश्य है। इसमें तीन पात्र हैं—दो गड़रिये और एक अफ़सर। वृद्ध गड़रिया रात-भर अन्ध-विश्वास की और छिपे खजानों की बात करता है। कल्पना-जगत् का यह विहार प्रभात होते ही खत्म हो जाता है। मुखर वृद्ध की वाणी अचानक जड़ हो जाती है। युवक गड़रिये के मन में विचार उठता है कि मानवीय सुख का स्वरूप भी परियों की कहानियों-जैसा है। यहाँ प्रतीक के द्वारा सुख की काल्पनिकता व्यक्त की गई है, जिसे मनोविश्लेषण में काल्पनिक इच्छा-तृप्ति कहते हैं। किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण संकेत सूर्य के ताप से उत्पन्न जड़ता का है। यह जड़ता प्रकृति, पशु, पक्षी और मनुष्य समस्त को अभिभूत करती है और तभी हटती है जब सूर्यास्त हो जाता है और रात्रि का नीला अञ्चल सबको ढक लेता है। उसके आवरण में प्राणी गतिशील होते हैं और चेतना स्फुरित होती है। मनोविश्लेषण की प्रतीक-व्याख्या के अनुसार रात्रि अन्तश्चेतन है और उसमें स्फुरित चेतना वे दमित प्रवृत्तियाँ हैं जो कल्पना के छद्म-जगत् में तृप्ति-लाभ करती हैं। दिन सहसा जीवन की चरम-शून्यता और कुण्ठा का प्रतीक बन जाता है, जिसे यह शक्तिमान अभिव्यंजना देकर चेखव कहानी समाप्त कर देते हैं : **"जब सूर्य अतिशय ताप की लम्बी अवधि के निर्णय के साथ पृथ्वी को पकाने लगा, तब समस्त जीवित वस्तुएँ, जो**

**रात्रि में गतिशील और मुखर हुई थीं, तन्द्रा में डूब गईं। वृद्ध गड़रिया और संका अपनी-अपनी कुबड़ी लिये भेड़ों के झुण्ड के आजू-बाजू खड़े थे, वे अचल खड़े थे, प्रार्थना में लीन फकीरों के समान, विचारमग्न। वे एक-दूसरे को नहीं देख रहे थे; उनमें से प्रत्येक अपना जीवन जी रहा था। भेड़ें भी विचारमग्न थीं।"**

'द हॉर्स स्टीलर्स' में वास्तविकता और आन्तरिक भावना का विरोध प्रदर्शित किया गया है। एक शिष्ट समाज के सदस्य और एक डकैत में केवल बाहरी अन्तर है, उनके आन्तरिक मनोभाव समान हैं। डकैत अपनी मूल प्रवृत्तियों को छिपाता नहीं, वह मुक्त होकर उनका अनुगमन करता है, खुलकर जीता है। जहाँ साहस के साथ आगे बढ़कर वह जीवन के रस का निरवशेष पान करता है, वहाँ शिष्ट-वर्ग का व्यक्ति कृत्रिम शिष्टाचार में आबद्ध कुण्ठित जीवन-यापन करता है। प्रस्तुत कहानी में येर्गुनोव साहसिकों के सम्पर्क में आकर इस रहस्य का अनुभव करता है और उसके मन में प्रबल वेग से यह विचार-धारा बह चलती है : **" 'कौन कहता है कि मौज करना पाप है ?' उसने खीझ के साथ स्वयं से पूछा। 'जो ऐसा कहते हैं वे कभी मेरिक और कालाश्निकोव के समान स्वतन्त्रता में नहीं रहे, और उन्होंने कभी ल्यूबका से प्रेम नहीं किया; वे आजीवन भिखारी रहे हैं, उन्होंने आनन्द से विहीन जीवन व्यतीत किया है, और केवल अपनी पत्नियों से प्रेम किया है, जो मेढकों के समान हैं।'···और उसने अपने बारे में सोचा कि वह अभी तक एक चोर, ठग अथवा डाकू नहीं बना, केवल इसलिए कि वह असमर्थ था, अथवा अभी तक उसे उपयुक्त अवसर नहीं मिला था।"**

इस युग की 'द ब्यूटीज़' और 'स्लीपी' कहानियाँ भी अपने ढंग की उत्कृष्ट कृतियाँ हैं। 'द ब्यूटीज़' में कोई कथानक नहीं; उसके दोनों भागों में दो विपरीत जाति की सुन्दरियों को केन्द्र बनाकर उनसे प्रेरित सौन्दर्य की अनुभूति का समृद्ध और मार्मिक चित्रण है। सौन्दर्य के इन आलम्बनों और सौन्दर्य के प्रमुख अनुभोक्ता ( आश्रय ) में एक बात भी नहीं होती। समस्त कहानी में केवल उन मानसिक प्रतिक्रियाओं का विशद और सूक्ष्म चित्रण है, जो सौन्दर्य के साक्षात् से स्फूर्त हैं, और इस प्रकार चेखव वह प्रभाव उत्पन्न कर सके हैं, जो अनेक कवियों के लिए आजीवन नख-शिख की साधना के बाद भी दुर्लभ बना रहा। प्रथम बाला का सौन्दर्य सुडौलता पर निर्भर है; **"ऐसा सौन्दर्य, जिसका मनन—ईश्वर ही जाने क्यों!—यह विश्वास उत्पन्न करता है कि अंग-प्रत्यंग ठीक वैसा ही है, जैसा होना चाहिए; कि केश, आँख, नाक, मुख, ग्रीवा, वक्ष और यौवनमय शरीर की प्रत्येक गति, सब ऐसे पूर्ण सामंजस्य में हैं, जिसमें प्रकृति ने सूक्ष्मतम रेखा में भी भूल नहीं की है।"** इसके विपरीत द्वितीय की आकृति के अलग-अलग भाग अत्यन्त साधारण हैं, तथापि उनकी पूर्णता में सौन्दर्य की सत्ता है। प्रथम की आकृति यदि सुनियमित है तो द्वितीय की अनियमित; **"उसके सौन्दर्य का समस्त रहस्य और जादू उसकी सूक्ष्म और आकर्षक भंगिमाओं, उसकी मुस्कान, उसके हाव-भाव, उसके चपल दृष्टिपात··· में सन्निहित था।"** इस प्रकार लेखक निर्देश करता है कि सौन्दर्य एक ऐसी सूक्ष्म सत्ता है जिसका कोई भौतिक मानदण्ड नहीं, जिसका केवल बोध होता है, किन्तु जिसे शब्दों में नहीं बाँधा जा सकता। सौन्दर्य के चरम प्रभाव से प्रेरित मनोदशा को चेखव ने इस भाव-व्यञ्जक रूप में व्यक्त किया है : **"इस सौन्दर्य का**

**अनुभव मैंने कुछ विलक्षण रूप में किया। वह न तो इच्छा है, न उल्लास, न आनन्द जो माशा ने मुझमें उद्दीप्त किया, यह तो एक पीड़ा-भरी किन्तु सुखद उदासी है। वह उदासी वैसी ही अस्पष्ट और अनिरूपित थी जैसे एक स्वप्न होता है। किसी कारण मैंने स्वयं के लिए दुःख का अनुभव किया, और अपने पिता में तथा उस आर्मीनियावासी, यहाँ तक कि स्वयं उस लड़की के लिए भी, मैंने दुःख का अनुभव किया। मुझे ऐसा लग रहा था मानो हम चारों ने कुछ ऐसी वस्तु खो दी है, जो जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण और आधारभूत है तथा जिसे हम फिर न पा सकेंगे। मेरे पितामह भी मलिन हो गए; अब वे खाद और बालरा की बात नहीं कर रहे थे, किन्तु उदास मुद्रा में माशा की ओर देखते हुए मौन बैठे थे।"** इस प्रकार चेख़व ने शब्दों के द्वारा एक भावना का स्वरूप निर्मित किया है। यह भावना एक प्रतीक है और उस अनुभूति का संकेत करती है, जो सौन्दर्य के दर्शन से जागी थी। स्वयं वह अनुभूति शब्दों की पकड़ में आने के लिए बहुत सूक्ष्म है, इसलिए लेखक उसे संकेत से अभिव्यक्त करते हैं।

'स्लीपी' संक्षिप्तता और प्रगाढ़ता में अद्वितीय है। वह एक मनोवैज्ञानिक कहानी है। उसमें तेरह वर्ष की एक लड़की का चित्र खींचा गया है, जो एक परिवार में शिशु की आया का काम करती है। नींद उसे अभिभूत करती है, किन्तु शिशु के पीछे वह सो नहीं पाती। रात बीत भी नहीं पाती और वह मालिकों की सेवा में लग जाती है। दिन-भर उसे दम मारने की फ़ुरसत नहीं मिलती, और फिर रात आ जाती है। थकन से यह इतनी चूर और नींद के लिए इतनी व्याकुल हो जाती है कि उसका मन विक्षिप्त हो जाता है। उस उन्माद में उस शिशु को वह अपने शत्रु के रूप में देखती है और मुक्त होने के लिए उसका गला घोट देती है। हत्या के मार्ग से मुक्ति पाकर वह गहरी नींद में लीन हो जाती है। वह सम्पूर्ण चित्रण अत्यन्त सूक्ष्म, कोमल और मार्मिक स्पर्श से किया गया है।

चेख़व के कृतित्व की तीसरी अवधि प्रौढ़ता की अवधि है। यह १८८९ से आरम्भ होकर अन्त तक चलती है। उसकी प्रथम कृति मिर्स्की 'ए ड्रियरी स्टोरी' को मानते हैं। इस कहानी का वातावरण स्वयं तथा आस-पास के जीवन से प्रोफ़ेसर के मन के फट जाने, अपने कार्य के प्रति उनकी आस्था के क्रमशः मिटने और जीवन द्वारा अनुबद्ध मनुष्यों के क्रमशः विलग होने से निर्मित है। प्रोफ़ेसर अपने जीवन की अर्थहीनता और अपने परिपार्श्व की अनुर्वरता तथा जड़ता का अनुभव करते हैं। उनकी एक-मात्र मित्र कात्या इसी अनुभूति के भार से टूट जाती है, किन्तु प्रोफ़ेसर उससे अन्त तक अपने मन का भाव व्यक्त नहीं कर पाते। एक-दूसरे के अकेलेपन को समझकर भी वे उसे दूर न कर सके और एक-दूसरे से विदा हो गए।

इस युग की उनकी श्रेष्ठ कहानियों की परिगणना तिथि-क्रम के अनुसार मिर्स्की ने इस प्रकार की है: 'द डूएल', 'वार्ड नं० सिक्स' (१८९२), 'एन एनॉनिमस स्टोरी' (१८९३), 'द ब्लैक मौन्क', 'द टीचर ऑफ़ लिटरेचर' (१८९४), 'थ्री इयर्स', 'अरिआद्ने', 'अन्ना ऑन द नेक', 'एन आर्टिस्ट्स स्टोरी', 'माई लाइफ़' (१८९५), 'पीज़ेण्ट्स' (१८९७), 'द् डॉर्लिङ्ग', 'इओनिच', 'द् लेडी विथ द् डॉग' (१८९८), 'द् न्यू विला' (१८९९), 'एट क्रिसमस-टाइम', 'इन द् रेवीन' (१९००)।

उपर्युक्त कहानियों में सर्वोत्कृष्ट 'माई लाइफ' और 'इन द रेवीन' मानी गई हैं। उनके कारण इस प्रकार हैं : '''माई लाइफ' तॉल्सतॉयानुग की कहानी है,···चेखव ने उसमें तॉल्सतॉय की अधिक स्पष्ट और बौद्धिक शैली के उपगमन का प्रयास किया है। वृत्तान्त की वह स्पष्ट गति और वातावरण का वह झीनापन उसमें है जो चेखव में अन्यत्र दुर्लभ है। वातावरण के इस सापेक्ष अभाव के बावजूद वह सम्भवतः उनकी सबसे अधिक काव्य-गर्भ कहानी है। वह विश्वसनीय रूप में प्रतीकात्मक है। नायक, उसका पिता, उसकी बहन, अज्होगिन परिवार के सदस्य और अन्युता ब्लागवो नैतिक पात्रों की स्पष्टता के साथ अंकित है।······'द रेवीन', उनकी अन्तिम कहानियों में से एक, एक आश्चर्यजनक कृति है। दृश्य मास्को का औद्योगिक क्षेत्र है—वह एक दुकानदार के परिवार का इतिहास है। वह विशद चित्रण के समस्त अतिशय से लक्षणीय रूप में मुक्त है, और वातावरण केवल कतिपय वर्णनात्मक स्पर्शों की सहायता से, कहानी की गति द्वारा उत्पन्न है। भावात्मक और प्रतीकात्मक सारगर्भिता में वह अपरिमेय रूप में समृद्ध है। इन दोनों कहानियों में वह तत्परता, नैतिक निर्णय के प्रति वह आग्रह, है जो चेखव की कहानियों में दुर्लभ है, और जो इन कहानियों को उनके कृतित्व की औसत धरातल से ऊपर उठा देता है।"

चेखव की कहानियों का सारांश अथवा कथानक लिखना बहुत कठिन है, क्योंकि वे कथानक के ढाँचे पर खड़ी कहानियाँ नहीं हैं और उनका कोई भाग अन्य से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। जिस शैली में वे लिखी गई हैं वह पूर्णतया चेखव की उद्भावना है। आरम्भ से ही चेखव की कहानियाँ लोगों को विचित्र रूप में प्रभावित करती आई हैं। प्रभावित व्यक्ति यह कहने में असमर्थ होता है कि कहानी में वह वस्तु क्या है जो उसे प्रभावित करती है। ऐसी विशेषताओं के कारण आरम्भ में समीक्षकों ने यह आक्षेप किया कि चेखव की कहानियाँ रूप-हीन हैं। यह उनकी भूल थी। बाद में मिर्स्की और गेरहार्डी-जैसे विद्वानों ने चेखव की निर्माण-कला का विश्लेषण करके यह प्रदर्शित किया कि उनकी कहानियों में एक अत्यन्त सूक्ष्म किन्तु सुनिश्चित रूप-विधान है, और वह अभिनव है। यहाँ हम उनकी कला पर कुछ अधिकारी निर्णयों का सारांश प्रस्तुत करते हैं।

मिर्स्की के अनुसार मनुष्य के पारस्परिक अभेद्य एकाकीपन और एक-दूसरे को समझने की असम्भवता की अभिव्यञ्जना में कोई लेखक चेखव का अतिक्रमण नहीं करता। किन्तु इसके बावजूद चेखव के पात्रों में विशिष्ट व्यक्तित्व का अभाव है। उनके सब पात्र चेखव की ही भाषा में बोलते हैं। वे सब समान मनुष्यता के सामान्य तत्त्व से निर्मित हैं। पात्रों की यह समानता दुर्बल कला की द्योतक नहीं है; उसमें जीवन की वह मूलभूत अखण्डता सन्निहित है जिसकी चेखव को प्रत्यभिज्ञा थी। यह अखण्डता व्यक्तित्व के कारण अभेद्य कक्षों में बँट गई है। चेखव मन की गौण, अचेतन, सहज, विनाशक और विगलनकारी शक्तियों पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। कला के रूप में उनकी विधि सक्रिय है, क्योंकि वह वस्तु के कठोर चयन और उसके जटिल नियोजन पर आश्रित है। किन्तु उनका जीवन-दर्शन निष्क्रिय है, क्योंकि वह आत्मा का अपने विनाशक जीवाणुओं के समक्ष समर्पण है। चेखव की सहानुभूति से निर्मित सृष्टि में यदि किसी को खलनायक कहा जा सकता है तो वह शक्तिमान मनुष्य है, क्योंकि वह असंवेदनशील है और इस प्रकार समर्पण नहीं करता।

चेख़व की कला शिल्प-प्रधान है। यह शिल्प इतिवृत्त पर आश्रित नहीं है। उसकी तुलना हम संगीत की निर्मिति से कर सकते हैं। वह एक साथ तरल और नपा-तुला है। जिन रेखाओं पर वे निर्माण करते हैं वे जटिल वक्ररेखाएँ हैं। भावात्मक प्रक्रिया की प्रथम स्थितियों के निरूपण में चेख़व अद्वितीय हैं। दूसरों की दृष्टि में न आने वाले, विचलन अथवा विकृति के प्रथम लक्षण को पकड़कर वे स्पष्टता से उसका निर्देश करते हैं। उससे यह संकेत मिलता है कि कहानी किस दिशा में बढ़ने वाली है। सरल रेखा और वक्र रेखा की यह योजना उनकी अनेक कहानियों में मिलती है। वक्र पहले इतना सूक्ष्म रहता है कि आरम्भ में दोनों रेखाएँ अभिन्न प्रतीत होती हैं, किन्तु अन्त में वक्र रेखा सरल रेखा से नितान्त भिन्न दिशा में घूम जाती है। 'द टीचर ऑफ लिटरेचर' में सरल रेखा नायक का प्रेम है; वक्र रेखा स्वार्थमय सुख से उसका प्रच्छन्न असन्तोष और उसकी बौद्धिक महत्त्वाकांक्षा है। प्रेम में वह सफल होता है किन्तु उसकी पृष्ठभूमि में द्वितीय पक्ष के अभाव की प्रखर अनुभूति के साथ कहानी सम्पन्न होती है। 'द लेडी विथ द डॉग' में नायक एक क्षणिक मनोरञ्जन की प्रवृत्ति से नायिका के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है, यह सरल रेखा है; किन्तु क्रमशः वह अनुभव करता जाता है कि उसके प्रति उसका प्रेम अभिभूत करने वाला और सर्वव्यापी है, यह वक्र-रेखा है। ये निर्माण रेखाएँ उस समृद्ध वातावरण के कारण और जटिल हो जाती हैं जिसे चेख़व भाव-गर्भित तथ्यों के बाहुल्य से उत्पन्न करते हैं। उनकी कहानियाँ 'मनोदशा की जीवनी' होती हैं। प्रसंगों अथवा घटनाओं में उनका विभाजन नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रत्येक प्रसंग अथवा घटना कहानी की पूर्णता में ही सार्थक होती है, उसके बाहर नहीं।

विलियम गेरहार्डी चेख़व को आद्योपान्त जीवन का कलाकार मानते हैं। जीवन की चेतना अनुभव की अनेक परतों से निर्मित है। सामान्यतः लेखक उनमें से एक या अधिक परतों को छोड़ देते हैं, और इसलिए उनकी कृतियाँ पाठक को जीवन की तुलना में अधूरी और एकांगी प्रतीत होती हैं। रोमाण्टिक कथा-साहित्य जीवन के अनवरुद्ध स्वप्नमय पक्ष की अभिव्यञ्जना करते हुए भौतिक यथार्थ से विमुख और वञ्चित हो जाता है। तथाकथित यथार्थ-वादी साहित्य भौतिक तथ्यों का उपयोग उस अबाधता से करता है जो केवल 'रोमांस' में सम्भव है और जीवन के प्रावृत्तिक स्वप्नमय पक्ष की ओर वह ध्यान ही नहीं देता। 'आत्म-दर्शनमूलक' कथा-साहित्य में प्रयुक्त साधन उसके कलात्मक लक्ष्य से अधिक भारी होने लगते हैं। जीवन में इन तीनों तत्त्वों का समावेश है और उसका सन्तुलित संयोग ही चेख़व की कृतियों को जीवनवत् स्पर्श प्रदान करता है। चेख़व वास्तविक जीवन के दर्शक और कलाकार थे। वे न निराशावादी थे, न आशावादी। जीवन उनके लिए न कुत्सित था, न सुखमय; प्रत्युत वह सविशेष, विचित्र, अस्थिर, सुन्दर और भयानक था। आत्मा के पीड़ित एकाकी-पन की अनुभूति चेख़व के कृतित्व में व्याप्त है। **"जैसे मैं कब्र में अकेला सोऊँगा, वैसे ही वास्तव में मैं अकेला जीता हूँ", यह उनकी नोट-बुक में अंकित एक विचार है। उनके प्रसन्न, मित्रता के योग्य मनुष्य हँसते हैं, किन्तु अकेले जीते हैं। और मौन रूप में, विशुद्धतः पृथ्वी पर अपनी उपस्थिति के द्वारा, प्रत्येक एक प्रश्न उठाता प्रतीत होता है।"**

भाव-विनियोग की प्रेरणा से विहीन कृति उत्तम साहित्य नहीं बन पाती। चेख़व की शैली की यह प्रथम विशेषता है कि उन्हें सदा कुछ कहना था, कि उसे कहने के लिए वे सच-

मुच उत्सुक थे, और इसलिए उन्होंने उसे सरलता, प्रत्यक्षता और पूर्णता से व्यक्त किया। चेखव की शैली की दूसरी विशेषता यथार्थवाद है। यथार्थवाद का अर्थ होना चाहिए—जीवन से उसके विशेषत्व-व्यञ्जक अंगों को छाँटकर निकालना; क्योंकि कला के निरूपण के बाहर जीवन रूपहीन और किसी योजना से शून्य है। यथार्थवादी वह है जो कलात्मक रूप की परिधि के अन्तर्गत उसकी अभिव्यञ्जना में सफल हो गया है जो रूप की पकड़ में नहीं आता, जो रूपहीन है। चेखव की कला ऐसी ही थी। अन्य यथार्थवादी केवल बाह्य रूप के विधान में यथार्थ का स्वरूप ला सके, किन्तु एक कृत्रिम कथानक का सहारा उन्होंने नहीं छोड़ा। एक सुनिर्मित कथानक आविष्कृत वस्तु है, जीवन की नहीं। जीवन में वैसी सुडौलता और योजना प्राप्त नहीं होती। अतएव उनकी उपस्थिति में यथार्थवाद वास्तविक नहीं है। चेखव ने जीवन की तरलता को अपनी कला की वस्तु बनाया, जो एक साथ उनकी कहानियों का रूप और प्रसंग है। रूप की सजीव शक्ति उस स्पष्टता पर आश्रित रहती है जिसके साथ वे यह प्रदर्शित करते हैं कि रूप और प्रसंग का सम्यक् योग प्रयत्न-सिद्ध है। यह उन्होंने किस प्रकार सम्पन्न किया? कथानक को त्यागकर नहीं, किन्तु एक पूर्णतया भिन्न जाति के कथानक का प्रयोग करके, जिसके तन्तु जीवन की समान घटनाओं के धरातल के नीचे उपस्थित रहते हैं और ध्यान को आकृष्ट किये बिना हमारे भवितव्य को निरूपित करते हैं। इस प्रकार वे घटनाश्रित कथानक की ओर दृष्टिपात ही नहीं करते; प्रत्युत जान-बूझकर उसे ऐसा अहेतुक बनने देते हैं जैसा वास्तविक जीवन में होता है। चेखव के पूर्व यथार्थवाद केवल एक प्रकार का रिवाज़ था।

संसार के मूर्धन्य कहानीकारों में परिगणित होने के साथ-साथ चेखव की ख्याति एक नाटककार के रूप में भी है। नाटक के क्षेत्र में भी उन्होंने अपनी मौलिक शैली का प्रवर्त्तन किया। आरम्भ में चेखव ने स्वयं को एकांकी तक सीमित रखा। उनकी प्रथम रचना 'ऑन द हाई रोड' (१८८४) है। इसमें कोई कथानक नहीं, वह केवल ऐसे अनमोल पात्रों का चित्र है जो सड़क के किनारे एक सराय में ठहरे हुए हैं। यत्र-तत्र हास्य का स्पर्श है, किन्तु सामान्य वातावरण उदासी का है। 'स्वान साँग' (१८८६) में एक हास्य-अभिनेता रङ्गमञ्च पर अकेला अपने विगत जीवन और उसकी कल्पनाओं तथा अपने समक्ष प्रसुप्त यथार्थ का स्वप्न देखता है। 'इवानोव' (१८८७) उनकी प्रथम लम्बी कृति है। किन्तु चेखव की उत्कृष्ट नाट्य-कृतियों के मुख्य गुण उसमें नहीं हैं। उनकी प्रथम सफलता का आगमन 'सीगल' (१८९६) के साथ हुआ। १८९६ में उसका प्रदर्शन विफल रहा और चेखव ने प्रतिज्ञा की कि वे भविष्य में नाटक नहीं लिखेंगे। किन्तु १८९८ में वह चरम सफलता के साथ 'मास्को आर्ट थिएटर' द्वारा प्रदर्शित हुआ। इसमें चेखव ने व्यक्ति का चित्रण न करके समूह का चित्रण किया है। उसमें चार पात्र प्रमुख हैं: सफल अभिनेत्री इरिना आर्कादिना, जो अपनी ख्याति के बावजूद इस भय से ग्रस्त है कि वह रङ्गमञ्च के लिए अधिक वृद्ध न हो जाय; उसका साहित्यिक प्रतिभा से युक्त पुत्र कॉन्स्तान्तिन त्रेप्लेव, जो अपनी माँ के प्रबल व्यक्तित्व से अभिभूत है; सफल उपन्याकार ट्रिगोरिन, जिसे ख्यात होने पर भी यह चेतना है कि उसकी प्रतिभा साधारण कोटि की है; और निना, एक युवती जो रङ्गमञ्च पर अपने महान् भविष्य का स्वप्न देखती है। किन्तु अन्य पात्र भी नाटक की पूर्णता को निर्मित करने में कम महत्त्वपूर्ण नहीं।

वे समस्त एक सामञ्जस्य का निर्माण करते हैं। प्रत्यक्षतः यह भासित होता है कि कार्य अनिर्दिष्ट दिशाओं में प्रवाहित हो रहा है अथवा स्तब्ध हो गया है। इस नाटक के अन्त में त्रेप्लेव आत्म-हत्या करता है, किन्तु फिर भी उसे दुःखान्त नहीं कहा जा सकता। उसमें दुःख का समावेश होने पर भी आद्योपान्त व्यंग्यात्मक हँसी का प्रवाह है।

'सीगल' शीर्षक प्रतीकात्मक है। त्रेप्लेव एक बन्दूक और एक मृत 'सीगल' (समुद्री पक्षी) लेकर निना के समक्ष उपस्थित होता है और मृत पक्षी को उसके चरणों पर डाल देता है। जब वह उसे उठाकर देखने लगती है तब वह (निराश प्रेमी) कहता है: **"मैं शीघ्र ही स्वयं को भी इसी प्रकार मार डालूँगा······"** निना उत्तर देती है: **"तुम आजकल दुर्बल स्नायु और चिड़चिड़े हो गए हो। तुम अपनी अभिव्यंजना अनबूझ रूप में, जैसा मुझे प्रतीत होता है, प्रतीक में करते हो। यह सीगल मुझे एक और प्रतीक प्रतीत होता है, किन्तु मुझे भय है कि मैं समझ नहीं पाती। तुम्हें समझ पाने के लिए मैं बहुत सरल हूँ।"** प्रतीक को समझने की यह असमर्थता निना के अपने भविष्य के प्रति अज्ञान को व्यक्त करती है। ट्रिगोरिन एक कहानी की कल्पना करता है जिसमें एक लड़की झील के तट पर सीगल के समान सुखमय और स्वच्छन्द जीवन-यापन करती है; एक मनुष्य आता है और उसी प्रकार उस लड़की का जीवन नष्ट कर देता है जैसे उस सीगल का हुआ। चूँकि ट्रिगोरिन निना के साथ ठीक यही व्यवहार करता है इसलिए उसकी उल्लिखित कल्पना भविष्यवाणी का रूप धारण कर लेती है। ट्रिगोरिन द्वारा नष्ट होकर निना 'सीगल' से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेती है, और कृति के अन्त में अपनी आरम्भिक उक्ति के अनुसार त्रेप्लेव आत्म-हत्या कर लेता है। इस प्रकार शीर्षक की प्रतीकात्मकता सम्पूर्ण कृति को परिव्याप्त करती है और उसे आलोकित तथा अर्थगर्भित बनाती है।

चेखव के पात्र आपस में मिलते और वार्तालाप करते हैं किन्तु सब परस्पर अगम्य और एकाकी बने रहते हैं। उनके चित्रण में अपने प्रतीक का ताना-बाना चेखव ध्यान आकृष्ट किये बिना वास्तविकता में बुनते चले जाते हैं। परिणामतः कृति का प्रभाव पूर्णतया कल्पना-ग्राह्य और काव्यात्मक होता है।

चेखव के नाट्य-कृतित्व में सर्वोत्कृष्ट 'सीगल' के अतिरिक्त 'अंकिलवन्या' (१८६६), 'द थ्री सिस्टर्स' (१६०१) और 'द चेरी ऑर्चर्ड' (१६०४) हैं। 'अंकिल वन्या' में केन्द्रीय पात्र विधुर प्रोफ़ेसर सेरेब्रियाकोव हैं। वे एक छोटी-सी जमींदारी में अपनी लड़की सोफ़िया और अपने साले 'अंकिल वन्या' के साथ रहते हैं। प्रोफ़ेसर इलीना आन्द्रिएवना नामक एक युवती पत्नी ले आते हैं। वन्या उससे प्रेम करने लगते हैं और उसी समय डॉक्टर आस्त्रोव भी उसकी ओर आकृष्ट होते हैं। प्रोफ़ेसर एक प्रदर्शन-प्रिय व्यक्ति हैं; वन्या ने अपनी बहन की जाददाद की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व त्याग दिया है और वे उसकी देख-भाल करते हैं, सोफ़िया अनाकर्षक है और आनन्दहीन जीवन-यापन करती है, आस्त्रोव झक और आदर्शवादिता के एक विलक्षण मिश्रण हैं और वन-रोपण द्वारा रूस की जलवायु को बदल देने तथा उसकी जनता के उन्नयन का स्वप्न देखते हैं, इलीना विवाह के पश्चात् अनुभव करती है कि प्रोफ़ेसर से उसे कोई प्रेम नहीं किन्तु उनके प्रति निष्ठावान रहने के लिए कृत-संकल्प है। वन्या को जब यह सूचना मिलती है कि प्रोफेसर उसकी बहन की जायदाद को बेच देना

चाहते हैं तब वे उसे गोली मार देने का विफल प्रयास करते हैं। अन्त में वन्या और सोफ़िया अकेले रह जाते हैं। वन्या के लिए सम्भवतः इसमें छुटकारा है कि वह उस कार्य को करता जाय जिसमें उसे अब कोई सन्तोष नहीं मिलता, सोफ़िया के लिए इस जीवन से अन्य किसी जीवन में सुख की आशा है।

अन्य दो कृतियों में कथानक का आश्रय और स्वल्प है किन्तु उनका स्वरूप अधिक जटिल है। वे चेख़व की विशिष्ट नाट्य-कला की चरम उपलब्धियाँ हैं। 'द थ्री सिस्टर्स' में ओल्गा, माशा और इरीना तीन बहनें हैं जो एक छोटे प्रान्तीय शहर में रहती हैं। वे निरन्तर मॉस्को जाने और वहाँ के उन्मुक्त और सुखद जीवन में भाग लेने का स्वप्न देखती हैं। कृति में केवल क्रमशः इस स्वप्न का बिखरना प्रस्तुत किया गया है। मॉस्को पहुँचकर उन्मुक्त आनन्द में लीन होने का स्वप्न मॉस्को को एक प्रतीक बना देता है। जिस प्रकार 'हैपीनेस' कहानी इस प्रमोद के साथ सम्पन्न होती है कि मानवीय सुख का स्वरूप परियों की कहानियों-जैसा है, और सुख को यह परिभाषा देती है कि वह मनुष्य की वह अनुभूति है जो उसके इस विश्वास पर आश्रित है कि उसके पास मुक्ति का एक मार्ग और एक स्वर्ग सुरक्षित है, उसी प्रकार मॉस्को तीन बहनों की मुक्ति और सुख की आशा और आकांक्षा का प्रतीक बन जाता है। उनके स्वप्न का क्रमशः भंग होना वर्शिनिन की आदर्शवादिता को बाधित नहीं करता। वर्शिनिन का व्यक्तिगत जीवन दुःखमय है, किन्तु आद्योपान्त इस स्वप्न को वे छोड़ते नहीं :

**"और तब भी, वास्तव में, जो आज है और जो भूतकाल में था उसमें कितना अन्तर है। और जब कुछ और समय व्यतीत हो जाता है—और दो-तीन शताब्दियाँ—तब मनुष्य-जीवन के वर्तमान स्वरूप को गहरी अरुचि और उपहास की दृष्टि से देखेंगे, और आज की प्रत्येक वस्तु उन्हें विरूप और बोझिल, तथा अत्यन्त विचित्र और असुखकारी लगेगी। आहा! कितना आश्चर्यमय वह जीवन होगा—कितना आश्चर्यमय जीवन!···कल्पना कर सकती हो तुम?···अभी इस नगर में तुम्हारे समान केवल तीन हैं, किन्तु आगामी पीढ़ियों में तुम-जैसे और होंगे, और, और, और; वह समय आयेगा जब प्रत्येक वस्तु बदल जायगी और वैसी हो जायगी जैसी तुम्हारी कामना है; वे तुम्हारी इच्छा के अनुकूल जीवन-यापन करेंगे, और बाद में समय तुम्हें भी पीछे छोड़ देगा—ऐसे लोग जन्म लेंगे जो तुमसे बढ़कर होंगे।"**

उपर्युक्त वक्तव्य को चेख़व का आदर्श न समझना चाहिए, क्योंकि उनके पात्रों के वक्तव्य विशुद्ध रूप से उनके पात्रों के ही होते हैं। इस प्रकार के स्वप्न जीवन के वास्तविक अभाव का संकेत करते हैं, उनके द्वारा वह व्यक्त होता है जो मनुष्य का आकांक्षित है किन्तु अगम्य है।

'द चेरी आर्चर्ड' चेख़व के नाट्य-कृतित्व का पारस है। इसमें उस रूस की छाया में जिसका क्रमावसान हो रहा है, एक चरित्र-समूह उद्घाटित है। चेरी आर्चर्ड इस मिटते हुए रूस का प्रतीक है। कार्य एकदम स्थगित प्रतीत होता है, क्योंकि वह बाह्य गतियों पर आश्रित न होकर आन्तरिक चेतना की परतों और गतियों पर आश्रित है। शीर्षक की प्रतीकात्मकता त्रोफिमोव के इस वक्तव्य में स्पष्ट हो जाती है :

**"तुम्हारा फलोद्यान मुझे भयभीत करता है। जब मैं सन्ध्या अथवा रात्रि में उसमें**

**घूमता हूँ तब वृक्षों की खुरदुरी छाल एक धूमिल आलोक से चमकती है, और चेरी वृक्ष वह समस्त देखते प्रतीत होते हैं जो सौ और दो सौ वर्ष पूर्व दुःखप्रद और भाराक्रान्त स्वप्नों में हुआ था। हम लोग समय से कम-से-कम दो सौ वर्ष पिछड़ गए हैं। हमने अभी तक कोई उपलब्धि नहीं की है; हम केवल दर्शनवत् चिन्तन करते हैं, अब की शिकायत करते हैं अथवा वोडका पीते हैं। स्पष्ट है कि हम वर्तमान में जी सकें इसके पूर्व यह आवश्यक है कि हम भूत काल को अपने लिए प्राप्त करें और उससे मुक्ति पा जायें; और उसे हम केवल सहकर प्राप्त कर सकते हैं, केवल कठोर, अनवरत परिश्रम द्वारा।"**

यह एक ऐसे जीवन का संकेत है जो शताब्दियों तक अपनी सम्भावनाओं की अवहेलना करता गया है और अब मुक्ति का कोई पथ नहीं देखता। पथ यदि है तो वह कठोर सहन शक्ति और कठोर परिश्रम से निर्मित है। सहन शक्ति और परिश्रम के इस महत्त्व का संकेत चेखव की कृतियों में हमें बार-बार मिलता है। इस कृति में भी अपने विचित्र प्रभाव की सृष्टि चेखव ने स्वप्नों को और उनके द्वारा आत्मा को नाटकीय बनाकर की है।

चेखव की कहानियों के समान उनके नाटक भी समीक्षकों को आरम्भ में रूपहीन प्रतीत हुए। नाटक के परिचित रूप से उनकी कृतियाँ इतनी भिन्न थीं कि उन्हें नाटक मानना ही बहुतों को असंगत लगा। लोग चकित होकर पूछते थे कि नाटकों की वस्तु क्या है, वे किस बारे में हैं; वे कहते थे कि उनमें तो कुछ होता ही नहीं, कि उनमें कोई कथानक ही नहीं है। इवाल गालिएँ, इन नाटकों की शक्ति उनमें निरूपित मनुष्य के प्राकृतिक स्वरूप और उसकी सूक्ष्म संवेदना में देखती हैं। उनका किंचित् भावुकतापूर्ण निर्णय इस प्रकार है :

**"क्या यह आवश्यक है कि इस युग के यन्त्र हमारी आत्मा में भी प्रविष्ट हो जायें और सरल मानवीय सार्वभौम वस्तुओं और सामान्य सुख-दुःख के जादू के प्रति हमें अन्धा बना दें ? निश्चय ही हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यद्यपि प्रतिवर्ष लाखों मशीनें बनाई जाती हैं.............. तथापि उसके द्वारा सदा के लिए समाधानहीन अनन्त आश्चर्य, नवोन्मेषशाली जीवन अवरुद्ध नहीं होता; पृथ्वी पर खिलने वाले फूल; आकाश में चमकते हुए तारे; बालक की आँखों में अश्रु; विचरण के लिए निकले हुए श्वान की उत्सुकता; मृत्यु, प्रेम और जन्म का रहस्य—ये समस्त वस्तुएं जिनकी चर्चा चेखव इतनी समझ से करते हैं, भौतिक विजय से गर्वित हमारे उपहास के बावजूद प्रगति के इस युग में हमारा नियन्त्रण करती हैं और हमें उलझन में डाल देती हैं....।"**

मिर्स्की के निर्णय से प्रतीत होता है कि चेखव की विशेषता को पूर्णतया हृदयंगम करते हुए भी वे उनकी नाट्य-कला से सहमत नहीं हो पाए। वे लिखते हैं—**"अपने ही मानदण्डों से जांचने पर ( जिन्हें कठिनाई से नाट्य-कला के सामान्य मानदण्ड कहा जा सकता है) चेखव के नाटक कला की निर्दोष कृतियां हैं, किन्तु क्या सचमुच वे उतनी निर्दोष हैं जितनी उनकी उत्तम कहानियां ? कुछ भी हो, उनकी शैली खतरनाक है और उसका अनुकरण तात्कालिक विपत्ति को अपनाकर ही किया गया है। चेखव के किसी अनुकर्ता द्वारा लिखा कोई नाटक उपेक्षामय घृणा के धरातल से ऊपर नहीं।"**

संसार के समस्त नाट्य-साहित्य का अनुशीलन करते हुए अलारडिस निकल ने चेखव के नाटकों के विषय में जो-कुछ लिखा है वह अपने ढंग की बहुत महत्त्वपूर्ण वस्तु

है और चेखव की नाट्य-कला की प्रमुख विशेषताएँ उससे स्पष्ट हो जाती हैं। 'चेरी आचर्ड' की उनकी व्याख्या यह है :

**"इस नाटक में, जिसमें आँसू हँसी के साथ मिले हुए हैं, आशा निराशा से मिली हुई है, चेखव अपने पात्रों के आन्तरिक एकाकीपन को व्यंजित करने की अपनी विशिष्ट शक्ति को चरम सीमा पर पहुँचा देते हैं। प्रत्येक अपने लिए बोलता है, और ऐसा कोई नहीं जो सुने......। इन व्यक्तियों को हम इब्सन द्वारा निरूपित स्पष्ट आकृति वाले पात्रों से भी अधिक अच्छी तरह पहचानते हैं, क्योंकि चेखव की कला व्याख्यात्मक कला है, जिसमें सन्निहित अर्थ और संगीत पर आश्रित मूल्य हमारे मन में सृजन-प्रक्रिया उद्दीप्त कर देती है।"**

उनकी समस्त नाट्य-कला पर वे कहते हैं—**"किसी जादू द्वारा, जिसकी ठीक-ठीक कार्यविधि हमारी बुद्धि की पकड़ में नहीं आती, चेखव विशेष को सार्वभौम गुणों से युक्त करने में सफल हो गए हैं, परिणामस्वरूप उनके कोमलता से सन्तुलित संवाद-अनुवाद में रूक्ष हो जाने पर भी उनकी सृजनशील कल्पना उनके पात्रों पर एक ऊष्म ज्योति डालता है। यद्यपि परिमाण में उनकी कृतियाँ इब्सन, स्ट्रिण्डबर्ग अथवा हॉप्टमैन की कृतियों से बहुत कम हैं, तथापि रंगशाला का कोई भविष्य इतिहासकार शताब्दी के मोड़ पर रंगमंच के उतार-चढ़ाव को देखता हुआ सम्भवतः इस निर्णय पर पहुँचे कि जहाँ तक गुण का प्रश्न है वहाँ तक कोई लेखक चेखव की समता नहीं कर सकता : उनका सूक्ष्म कौशल चरम कोटि का है।"**

चेखव एक ऐसे लेखक हैं जो अपनी कला-शक्ति के प्रभाव द्वारा अपना स्थान बना सके। कला के नये रूप में उन्होंने उन्मुक्त अभियान किया, किन्तु कठोर परिश्रम और साधना से उस रूप में जो सर्वोत्तम हो सकता था उसे उन्होंने प्रस्तुत किया। समीक्षक सम्भवतः उनकी ओर ध्यान ही न देते यदि उनकी कला स्वयं न बोलती। चेखव लम्बी योजनाओं और ऊँचे इरादों का उद्घोष करते हुए कला के क्षेत्र में नहीं उतरे; जैसा कि आज के कतिपय लेखक करते हैं। नये युग के ऐसे कलाकार कृतित्व के बल पर नहीं, किन्तु अनर्गल तर्क और अन्य अकलात्मक विधियों के आश्रय से स्वयं को मान्य बना लेना चाहते हैं। चेखव ने यह प्रदर्शित किया कि कला में सदा मौलिकता के लिए स्थान है, किन्तु मौलिकता प्रतिभा के उपयुग से भिन्न कोई वस्तु नहीं। कोई भी नई दृष्टि कला के क्षेत्र में तब मान्य हो सकती है जब समस्त नवीनता के साथ कला की उस विशेषता को वह अक्षुण्ण रखे जो उसे अन्य विषयों से भिन्न बनाती है।

चेखव के विषय में कहा जाता है कि उनकी कला में कोई प्रवृत्ति नहीं है, वह किसी लक्ष्य की ओर गतिशील नहीं जान पड़ती। ऐसा कहने के पूर्व यह स्मरण रखना चाहिए कि चेखव उद्देश्यहीन नहीं थे, किन्तु कला स्वयं उनका उद्देश्य थी। एक वास्तविक कलाकार का मौलिक परिचय यह है कि अपने जीवन में सर्वोपरि स्थान वह कला को देता है। चेखव ने यथार्थवाद को स्वीकार किया किन्तु उसकी उन वृत्तियों को दूर करके जो कलात्मक नहीं हैं और कला को फोटोग्राफी-जैसी वस्तु में बदल देती हैं, जिसमें स्वयं कलाकार के कृतित्व का कोई स्थान नहीं रह जाता। जो सूक्ष्म चयन, सन्तुलन और लय उनकी कृतियों में मूर्त हैं, वे इसका निर्देश देते हैं कि चेखव कला के निर्माण में एक गहरे विवेक और निर्णय से

काम लेते थे। उनकी कृतियों में जो सहजता और स्वाभाविकता प्राप्त होती है, उसकी उद्-भावना कठोर यत्नों और नियन्त्रण से हुई है। इसीलिए पूर्णतया रूपबद्ध होने पर भी उनकी रचनाएँ रूपहीन प्रतीत होती हैं।

जिस युग में चेखव लिख रहे थे, वह भी हमारे युग के समान मतों और वादों के बाहुल्य से आक्रान्त था। रूस की विशेष परिस्थितियों में लेखकों ने जननायक का स्थान ग्रहण कर लिया था। यह अत्यन्त आवश्यक और स्वाभाविक माना जाता था कि लेखक का अपना कोई जीवन-दर्शन और कोई उद्देश्य हो, जिसे अपनी कृतियों में उसे व्यक्त करना चाहिए। वह तालसताय और गोर्की का युग था। समाज पीड़ित और रुग्ण था। वह मुक्ति और उपचार चाहता था। चेखव समाज की पीड़ा और रोग को तो पहचान सके किन्तु उनके पास मुक्ति का कोई मार्ग अथवा रोग का कोई उपचार न था। उन्होंने उसकी अभिव्यञ्जना की जिसका उन्हें अनुभव था और कला के साथ प्रचार अथवा प्रवचन का संयोग वे न कर सके। उन्होंने स्वीकार किया कि उनके पास अपना कोई जीनन-दर्शन न था, अपने समक्ष प्रस्तुत यथार्थ को समझते हुए भी वे उसे सुनिश्चित सिद्धान्तों के अन्तर्गत न ढाल सके। इसलिए कोई आश्चर्य की बात नहीं कि उनकी रचनाओं में कोई राजनीतिक प्रवृत्ति अथवा कोई धार्मिक आदर्श प्रतिष्ठित नहीं। यह नहीं कि वे कला के लिए कला का सिद्धान्त मानते थे और उसके आधार पर उन्होंने कला को अपने युग की राजनीतिक और धार्मिक प्रवृत्तियों से मुक्त रखा, किन्तु यह मुक्ति इसलिए प्रतीत होती है कि स्वयं उनके पास प्रचार के लिए कोई नारा न था।

चेखव ने कला में उपदेशात्मकता का विरोध भी किया है। तॉल्सताय के विषय में वे लिखते हैं—**"तालसताय के दर्शन ने मुझ पर गहरा प्रभाव डाला और छः-सात वर्षों के लिए मुझ पर अधिकार जमा लिया, और जिस वस्तु ने मुझे प्रभावित किया वह उस दर्शन की सामान्य तत्वावली नहीं थी............किन्तु तॉलसताय की उसे अभिव्यक्त करने की शैली, उनकी बुद्धि-मूलकता और सम्भवतः एक प्रकार का सम्मोहन था। अब मेरे अन्दर से कुछ उसका विरोध करता है। बुद्धि और न्याय मुझे बतलाते हैं कि बिजली और भाप में शुद्धाचार और शाकाहार से अधिक मानवीयता है।"** तॉल्सताय की प्रतिभा के प्रति उनका आदर कभी दूर न हुआ; किन्तु ज्यों ही तॉल्सताय किसी प्रकार का उपदेश देने लगते थे वे तत्काल अपनी असहमति प्रदर्शित करने लगते थे। 'रिसरेक्शन' की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करने के पश्चात् चेखव ने अन्त में यह लिखा—**"लिखते जाना, लिखते जाना, और फिर समस्त को धर्मशास्त्र के किसी आदेश पर टाँग देना—यह कुछ आवश्यकता से अधिक आध्यात्मिक है.........उन्हें पहले नीति-निर्देशों में हमारा विश्वास उत्पन्न करना चाहिए, इसमें कि उन निर्देशों में ही वास्तविक सत्य निहित है—और केवल तभी प्रत्येक वस्तु का निर्णय नीति-निर्देश के आधार करना चाहिए।"** चेखव का यह दृष्टिकोण किसी भी कलाकार के लिए उपयोगी हो सकता है।

चेखव के पास यदि कोई सुनिर्मित जीवन-दर्शन न था, तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि किसी प्रकार मूल्यों में उनकी आस्था न थी। उनकी रचनाओं में एक ऐसे व्यक्तित्व की झलक मिलती है जिसकी पैठ बहुत गहरी है, जो सत्य को इतनी दूर तक समझता है कि

एकाएक कोई निर्णय देना अपने लिए सरल नहीं पाता, और जिसकी संवेदनशीलता और सहानुभूति का अन्त नहीं। इनके साथ कुछ ऐसे मूल्य भी हम पाते हैं, जो मानवीयता पर आश्रित हैं। उन मूल्यों के केन्द्र में एक नैतिक निष्ठा सन्निहित है। एक शिक्षित मनुष्य अथवा सुसंस्कृत व्यक्ति के लिए वे ये लक्षण निर्धारित करते : (१) वह मानवीय व्यक्तित्व का आदर करता है, और इसलिए सदा उस दयालु, सौम्य, विनम्र और कुछ आगे बढ़कर दूसरों से मिलने के लिए तत्पर रहना चाहिए; (२) वह केवल भिखारियों और बिल्लियों पर अपनी सहानुभूति नहीं बरसाता, किन्तु दूसरों की आवश्यकताओं को समझने के लिए अपनी कल्पना-शक्ति का उपयोग करता है।...(३) वह अपने ऋण चुकाता है; (४) वह छोटी-से-छोटी बातों में भी छद्म और मिथ्यावादिता से बचता है; (५) वह आत्म-करुणा से अभिभूत नहीं होता; (६) वह अहंप्रिय नहीं होता, किन्तु अहं-विरत होता है; (७) यदि उसके पास प्रतिभा है तो वह उसका आदर करता है और उसके लिए त्याग करता है। (८) वह एक सौन्दर्यानुभूति विकसित करता है जिससे वह सब कपड़े पहने नहीं सो सकता और खटमल, दूषित वायु, गन्दे फर्श तथा उलटी-सीधी रसोई को सहन नहीं कर सकता। वह अपनी काम-प्रवृत्ति के नियन्त्रण और उदात्तीकरण के लिए प्रयत्न करता है।

उपर्युक्त आदर्श के आधार पर चेखव ने रूस के बुद्धिजीवियों के विषय में लिखा है कि वे "**जीवन की बिगड़ी हुई सन्तान हैं। जहाँ वे अपनी प्रतिभा के समादर और उसके लिए त्याग की बात करते हैं; वहाँ स्पष्ट है कि प्रतिभा को वे एक उत्तरदायित्व की वस्तु समझते हैं।**" चेखव और लिखते हैं कि "**मानदण्ड मुझे अज्ञात है, जैसा कि वह हम सबके लिए है। हम सब जानते हैं कि सम्मान विरुद्ध कार्य क्या है, किन्तु सम्मान क्या है, यह हम नहीं जानते। मैं उस ढाँचे के अन्दर कार्य करूँगा, जो मेरे हृदय के सबसे समीप है और जो मुझसे कहीं अधिक शक्तिमान और बुद्धिमान् व्यक्तियों द्वारा परखा जा चुका है। वह मनुष्य की पूर्ण स्वतन्त्रता है—हिंसा, पूर्वग्रह, अज्ञान, शैतान, आवेश इत्यादि से स्वतन्त्रता। व्यक्ति के महत्त्व का यह प्रजातान्त्रिक आदर्श उनकी रचनाओं में सन्निहित है और मनुष्य के प्रति उनके मूल दृष्टिकोण को व्यक्त करता है। उनकी व्यापक सहानुभूति के केन्द्र में इसी प्रच्छन्न आदर्श की स्थिति है।**"

सूक्ष्म संवेदनशीलता के साथ जीवन और जगत् का दर्शन, पूर्वग्रह से मुक्त मन से इस प्रकार निरीक्षित सत्य का ग्रहण, किसी प्रकार के शीघ्र निर्णय से बचना, स्वयं को किसी पर आरोपित न करना, मानवीय व्यक्तित्व का समादर, कला-सृष्टि में असत्य और उपदेशात्मकता का निवारण और एक सर्व-व्यापी सहानुभूति में हम चेखव की मूल्य व्यवस्था के कुछ सूत्र देख सकते हैं। वे चेखव के व्यक्तित्व और उनकी कला की आधारभूत चेतना का संकेत करते हैं। इससे ज्ञात होता है कि चेखव के पास उनकी कला और उनके व्यक्तिगत जीवन में अलग-अलग दिखाई देने वाले दो व्यक्तित्व नहीं थे। कलाकार के तथाकथित दो व्यक्तियों को बहुधा भिन्न मानकर उसे देखा जाता है और कुछ अनधिकारी कोटि के कलाकार उससे लाभ उठाने में तत्पर रहते हैं। चेखव का उदाहरण उन्हें यह प्रदर्शित करता है कि कला की वास्तविक ऊँचाई कलाकार के व्यक्तित्व की गहराई पर आश्रित है।

मतवादों, नारों और उपचारों के उस युग में चेखव की तटस्थता के गम्भीर अर्थ को

तत्कालीन समीक्षक सम्भवतः समझ नहीं पाए। साहित्य और जीवन के घनिष्ठ सम्बन्ध की घोषणा करते-करते कुछ ऐसी कुण्ठा आ गई थी कि शीघ्र यह स्पष्ट न हो सका कि चेख़व के कृतित्व में जीवन, व्यक्तित्व और कला का पूर्ण समन्वय है। कदाचित् इसीलिए चेख़व ने समीक्षकों के विषय में बहुत प्रसन्न होने योग्य सम्मति प्रकट नहीं की है। समीक्षक की तुलना घोड़े को काम में बाधा देने वाली बगई से करते हुए वे कहते हैं : "....**पच्चीस वर्षों तक मैंने अपनी कहानियों की समीक्षाएं पढ़ी हैं, और मुझे मूल्य के एक भी संकेत अथवा एक भी मूल्यवान् परामर्श का स्मरण नहीं। केवल एक बार स्काबिशेव्स्की ने कुछ लिखा था, जिसका मुझ पर प्रभाव पड़ा....उसने कहा था कि मैं नशे में धुत एक नाली में मरूँगा।**" जो समीक्षक चेख़व-जैसे विनम्र व्यक्ति में ऐसी तीव्र प्रतिक्रिया जगा सके वे अवश्य दया के पात्र हैं। किन्तु कदाचित् यह उचित होगा कि वे लेखक इससे प्रेरणा ग्रहण न करें, जो अश्व से कुछ कम हैं और समीक्षक की दया के पात्र हैं।

*जितेन्द्रनाथ पाठक*

# नीतिपरक हिन्दी-मुक्तक-काव्य

: १ :

व्यक्ति के परिस्थिति-सापेक्ष आचारों से सम्बन्धित तत्त्व-दर्शन का नाम नीति है। व्यक्ति के ये आचार जिस तरह कई प्रकार के हो सकते हैं उसी तरह उनके तत्त्व-दर्शन की दृष्टि भी कई प्रकार की हो सकती है। व्यक्ति के आचार धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक कई प्रकार के हो सकते हैं; उसी प्रकार इनका विवेचन करने वाले विषय भी धर्म-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र, अर्थशास्त्र आदि कई प्रकार के नामों से अभिहित होते हैं। धार्मिक तत्त्व-दर्शन को अलग रखते हुए भी नीतिपरक रचनाओं में एक प्रकार की सर्वधर्म-अविरोधी आधारभूत नैतिक मान्यताएँ आ जाती हैं। यद्यपि उसकी अविरोधिता की सीमा परिस्थितियाँ ही निर्धारित करती हैं। नीतिपरक कविता में सामान्य जन-समुदाय अथवा किसी मानव-खण्ड के आचार-व्यवहारों के निरीक्षण से प्राप्त एक प्रकार की परम्परागत बुद्धिमत्ता (Traditional Wisdom) प्रभावशाली और काव्यात्मक शैली के भीतर काम करती है।

यों तो सम्पूर्ण भारतीय काव्य नीति-तत्त्व से अनुप्राणित है लेकिन नीतिपरक-काव्य में यह तत्त्व अपना प्रत्यक्ष और स्वतन्त्र स्वरूप प्रकट करता है। महाकाव्यों, काव्यों और नाटकों आदि में यह वृत्ति जब कि अन्तर्यमित रहती है तो नीतिपरक-काव्य में स्वतन्त्रतया अभिव्यक्त। इस प्रकार की कविता का आरम्भिक रूप ऋग्वेद, 'ऐतरेय ब्राह्मण', उपनिषदों, सूत्र-ग्रन्थों, महाभारत आदि में प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। 'धम्मपद' वह प्राचीनतम संकलन है, जिसमें नीति-तत्त्वात्मक रचनाएँ उत्कृष्ट रूप में संकलित हुई हैं। नीति-तत्त्वात्मक रचनाएँ लोक की अवसरोचित मान्यताएँ हैं।[1] इसीलिए संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी सर्वत्र इनमें प्रायः समान भावपरक उक्तियों की विचित्र क्रम-परम्परा प्राप्त होती है। यही समाज की परम्परागत बुद्धिमत्ता और भाव-समृद्धि है। इसी कारण इनमें से अनेक उक्तियाँ

---

भाव सरस समुझत सबै, भले लगें यह भाय।
जैसे अवसर की कही, बानी सुनत सुहाय॥
नीकी पै फीकी लगै, बिनु अवसर की बात।
जैसे बरनत युद्ध में, रस सिंगार न सुहात॥
फीकी पै नीकी लगै, कहिए समय बिचारि।
सबको चित हरषित करै, ज्यों बिवाह में गारि॥

—'सतसई सप्तक', वृन्द सतसई २८७। ३·४-५; सम्पादक डॉ० श्यामसुन्दर दास, प्रकाशक—हिन्दुस्तानी अकादेमी, उत्तरप्रदेश, १९३१।

अक्सर कई-कई कवियों और संकलयिताओं के नाम से सम्बद्ध हैं। वस्तुतः भारतीय समाज अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए कवियों या आचार्यों के नाम का प्रयोग प्रतीक के रूप में करता आया है। भारतीय संस्कृति की यह विशेषता इतिहासकारों की दृष्टि में चाहे कुछ अनुचित जान पड़े, किन्तु यह एक-मात्र विशेषता हमारे सांस्कृतिक स्थायित्व का प्रमाण है। वस्तुतः भारतीय संस्कृति में ज्ञाता और ज्ञेय से ज्ञान को अधिक ऊँचा माना जाता है। चाणक्य के नाम से युक्त (?)[१] राजनीति समुच्चय, चाणक्य नीति, वृद्ध चाणक्य, लघु चाणक्य आदि संकलन; भोजराज, वररुचि, घटकर्पर, बेताल भट्ट आदि के नामों से सम्बद्ध नीति-मुक्तक; भर्तृहरि का नीतिशतक, कश्मीरी कवि भल्लट की कृतियाँ आदि नीति-रचनाएँ अपभ्रंश नीति-काव्य-परम्परा के पहले मिलती हैं। कुछ अधिक उपदेशात्मक और दार्शनिक तत्वों से संवलित पालि के 'अंगुत्तरनिकाय' की कुछ रचनाएँ, महायान मतावलम्बी शान्तिदेव का बोधिचर्यावतार, आचार्य शंकर की 'शतश्लोकी' आदि हैं। इन नीतिपरक और उपदेशात्मक संस्कृत मुक्तकों की सामान्य विषय-वस्तु लोक की आचारिक मान्यताओं के प्रचलित मूल्य होते हैं। लेकिन इनमें भी प्रकृति, व्यक्ति और परिवेश के सूक्ष्म निरीक्षण से प्राप्त अनेक नीतिमूलक अनुभूतियों को विपुल, विविध, समर्थ और प्रसन्न पदावली (Diction) में व्यक्त किया गया है। जीवन का हर्ष-विषाद, प्रेम की अस्थिरता और चंचलता, नारी-जीवन के दोष और उनके द्वारा उत्पन्न बन्धन, जीवन का वास्तविक क्रम, वैभव और शक्ति की असारता, जीवन के प्रति थकावट और भृत्यभाव, मानव-प्रयत्नों तथा इच्छाओं की अस्थिरता तथा अयथार्थता, एकान्त और वैराग्य का आनन्द और कभी-कभी धोखा तथा घातक परिहासों के प्रति तिरस्कारपूर्ण दृष्टि इन रचनाओं में प्रकट की गई है।[२]

यह कहना व्यर्थ है कि नैतिक मान्यताएँ प्रत्येक युग की समसामयिक अर्थ-व्यवस्था और सांस्कृतिक परिस्थितियों द्वारा ही टूटती-बनती रहती हैं। इनके अतिरिक्त नीति-तत्व के निर्णय में नीति-विशेष की लक्ष्य-वस्तु की तत्सामयिक परिस्थिति भी उत्तरदायी होती है। जैसे सत्य-भाषण सुन्दरतम है लेकिन प्रत्येक परिस्थिति में नहीं 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।' शठता बुरी है पर 'शठे-शाठ्यं समाचरेत्'। कभी-कभी विशेष प्रकार के धार्मिक दृष्टिकोण से संचालित जीवन में सम्पूर्ण आचार-व्यवहारों के प्रति एक भिन्न दृष्टि

१. A History of Sanskrit Literature by A. B. Keith, p. 228, Oxford University Press, 1948.

२. The general theme of all these forms of composition consists of the common places of prevelant ethics, but there are acute observations, abundant and varied, expressed in skilled but often felicitious diction and in a variety of melodious metres on the sorrows and joys of life, fickleness and caprics of love, follies of men and wiles of women right mode of life, futility of pomp and unstability of human effort and desire, delights of solitude and tranquillity as well as witty and sometimes sardonically humorous reflections on humbug and hoax.

—A History of Sanskrit Literature ; S. N. Das Gupta and S. K. De ; p. 399 ; University of Calcutta, 1947.

हो जाती है। जैसे कुछ धर्म अपने एकान्त मानववाद के कारण किसी भी परिस्थिति में प्रतिकार के सिद्धान्त को नहीं मानना चाहते। उनके अनुसार 'अक्कोधेन जयेत कोधं'।[१] कभी-कभी परिस्थिति की भिन्नता पर विचार करके एक ही कवि एक ही पक्ष पर दो प्रकार की नीति-वस्तुओं को प्रस्तुत करता है। तुलसीदास के 'रामचरित मानस' में ऊपरी दृष्टि से परस्पर-विरोधी पर भीतरी दृष्टि से परिस्थितिजन्य नीति की अनेक उक्तियाँ मिलती हैं। इसीलिए नीति-साहित्य में अवसर और परम्परागत बुद्धिमत्ता पर विशेष बल दिया गया है। इन उक्तियों में से अधिकांश को, युग के आर्थिक चक्र के दबाव और उक्त परम्परागत बुद्धिमत्ता के कारण, सामाजिक आचार-व्यवहार को अनुशासित करने का श्रेय प्राप्त हो जाता है। लेकिन कुछ सूक्तियाँ ऐसी भी अवश्य होती हैं जो मानव-हृदय के चिरन्तन मूल्यों को स्पर्श करती हैं, यद्यपि उसकी चिरन्तनता सादृश्यमूलक है।[२] क्योंकि नीति का कोई शाश्वत रूप नहीं है। एक ओर नैतिक वृत्तियाँ परिस्थितिजन्य हैं तो दूसरी ओर उनमें परिस्थितियों की सीमा तोड़कर नव-निर्माण करने की स्वतन्त्र चेतना भी है।

: २ :

नीतिपरक हिन्दी-मुक्तकों की पृष्ठभूमि का निर्माण सामान्यतया संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की नीतिपरक मुक्तक रचनाएँ करती हैं। इनमें भी अपभ्रंश के नीतिपरक मुक्तक हिन्दी-मुक्तकों की पीठिका-निर्माण में विशेष योग देते हैं। अपभ्रंश और हिन्दी दोनों साहित्यों का नीति-काव्य ह्रासोन्मुख सामन्तवादी युग में लिखा गया। यही कारण है कि दोनों काव्यों में ह्रासोन्मुख संस्कृति प्रतिबिम्बित हुई है। जैसा कि आगे चलकर दिखाया जायगा कि अधिकांश नीति-मुक्तक व्यक्ति और उसके परिस्थितिगत और परिवेशगत सम्बन्धों को लेकर लिखे जाते हैं। अपभ्रंश और हिन्दी-युग की नीति-कविता में स्वामी और भृत्य के सम्बन्धों को लेकर बहुत अधिक रचनाएँ मिलती हैं। इनमें स्वामी की चापलूसी-प्रियता और सेवक की अवशता का चित्र स्पष्ट उभर आता है। इन उक्तियों के माध्यम से ईसा की लगभग दसवीं शताब्दी से लेकर ईसा की लगभग अट्ठारहवीं शताब्दी तक के सामाजिक सम्बन्धों और अन्य अनेक छोटी-बड़ी बातों का सुन्दर चित्रण हुआ है। नीतिकार हमेशा सामाजिक असन्तुलन (Social unbalance) के भीतर सन्तुलन खोजता हुआ दृष्टिगत होता है। ऐसा भी दिखलाई पड़ता है कि कुछ कवि और तत्त्वचिंतक समझौते का मार्ग न अपनाकर क्रान्ति का पथ चुनते हैं। सहजयानी सिद्धों, जैन-साधुओं, नाथपन्थी योगियों और सन्तों आदि की ऐसी बहुत-सी रचनाएँ हैं जो क्रान्तिकारी आचार-दर्शन को लेकर नीतितत्त्वात्मक काव्य प्रस्तुत करती हैं।

ह्रासोन्मुख सामन्तवादी युग में लिखे जाने के कारण हिन्दी और अपभ्रंश नीति-काव्य मे आधारभूत समानताएँ तो हैं लेकिन दोनों में कुछ असमानताएँ भी हैं जो मध्यकालीन लम्बे इतिहास को सामने रखने पर स्पष्ट हो जायँगी। इनका उल्लेख नीचे किया जाता है—

---

१. सत्तु वि महुररइं उवसमइ, सयल वि जिय वसि हुंति।
चाइ कवित्ते पोरिसइं, पुरिसहु होइ णं कित्ति॥

२. संसार की गतिशीलता के सिद्धान्त में बाह्य जगत् या अन्तर-वृत्तियाँ सभी गतिशील हैं। सादृश्यमूलक समानता ही उनके एकत्व एवं चिरतनत्व को प्रतिभासित करती है।

१. अपभ्रंश-युग की नीति-कविता में लघुराज्यों के कारण जटिल दरबारी व्यवहार-नीति को उतना बल नहीं मिला है जितना मुग़लकालीन रहीम आदि की नीति-रचनाओं में।

२. अपभ्रंश में अनेक ऐसे दोहे मिलते हैं जिनके पीछे आदर्शपूर्ण सामन्ती साहसिकता के चित्र मिलते हैं किन्तु हिन्दी के नीति-मुक्तकों में यह साहसिकता दब-सी गई है। इसी कारण अपभ्रंश के नीतिपरक मुक्तकों में अपेक्षाकृत अधिक ताजगी मिलती है।

३. अपभ्रंश काल में मर्यादावादी भक्ति-आन्दोलनों का प्रभाव कम है और सिद्धों, जैनियों, नाथों आदि के स्वच्छन्दतापूर्ण आन्दोलनों का जोर अधिक। धार्मिक परिवेश में जो नीतिपरक मुक्तक लिखे गए वे दोनों युगों में भिन्न-भिन्न धार्मिक परिस्थितियों के कारण किंचित् भिन्न हो गए। अपभ्रंश-युग के धार्मिक नीतिकारों ने अपने विशिष्ट प्रगतिशील तत्त्व-दर्शन के कारण जब अपनी नीति-रचनाओं में विद्रोह और नितान्त व्यक्तिनिष्ठ स्वच्छन्द सामाजिकता के स्वर को महत्त्व दिया तो हिन्दी के धार्मिक नीतिकारों में कबीर आदि सन्तों को छोड़कर शेष ने भक्ति-युग की मर्यादाप्रियता से परोक्षतः आधार ग्रहण किया। कबीर में पूर्वयुगीन विद्रोह कुछ अधिक तीव्र रूप में प्रकट हुआ है लेकिन तुलसी, वृन्द, रहीम, दीनदयाल आदि में मर्यादावादी स्वरों को बल मिला है।

४. अपभ्रंश-युग में कथन-प्रणाली में जब कला के ऋजु उपादान गृहीत हुए हैं तो हिन्दी-नीति-काव्य के विशेषतया रीतिकालीन नीतिकारों में शृंगारिक और आलंकारिक उपादान।

५. अपभ्रंश के नीतिमुक्तकों में सामूहिक दृष्टि से आदर्शोन्मुखता प्राप्त होती है किन्तु हिन्दी के नीति-मुक्तकों में अपेक्षाकृत व्यावहारिकता। एक में व्यक्ति को आदर्श और उदात्त बनाने का प्रयत्न किया गया है तो दूसरे में सूक्ष्म, जटिल और व्यावहारिक।

एक बात और ध्यान देने योग्य है। नीति-चिन्तक धर्माश्रित समाज का सदस्य होने के कारण धार्मिक विश्वासों और रूढ़ियों से अत्यधिक ग्रस्त होते थे। इधर धर्माश्रित मुक्तकों के रचयिता साधक कवि भी कभी-कभी नीतिमूलक उक्तियाँ कहते थे। अपभ्रंश के जैन-कवि जोइन्दु, रामसिंह आदि; सहजयानी सिद्ध सरहपा, काठहपा, डोंबिया आदि दिन्दी के संत-कवि कबीर, दादू, रज्जब, सुन्दरदास आदि; रामोपासक सगुण कवि तुलसीदास आदि में नीतिपरक उक्तियाँ प्रायः धार्मिक रचनाएँ हो गई हैं। धर्म को आधार मानकर सामाजिक जीवन को संयम की शिक्षा देना एक प्रकार से आचारिक मूल्यों को परिवर्तित करना है और यह नीति-काव्य की सीमा के भीतर ही है, किन्तु 'तुलसी सतसई' या 'तुलसीकृत दोहावली' की भाँति रामनाम का ग्रहण करके भक्ति-भाव-पोषक उक्ति-कथन नीति-काव्य के अन्तर्गत नहीं आ सकता। उल्लिखित कवियों की कुछ रचनाएँ तो अवश्य नीतिमूलक हैं, पर अधिकांश नहीं। यही कारण है कि इस निबन्ध में वैराग्यपरक विशेष उक्तियाँ भी नीति-काव्य से भिन्न मानी गई हैं।

: ३ :

ऊपर कहा जा चुका है कि हिन्दी-नीति-काव्य की पृष्ठभूमि का निर्माण अपभ्रंश का नीति-काव्य करता है। इस बात की पुष्टि उस स्थिति में और अधिक हो जाती है जब हम दोनों में समान भावपरक उक्तियों को अत्यधिक मात्रा में पाते हैं। समाजशास्त्रीय दृष्टि से एक ही

युग (ह्रासोन्मुख सामन्तवादी) में लिखित होने के कारण भी दोनों काव्यों की विषय-वस्तु में भी लगभग पूरी-पूरी समानता है। अपने इन कथनों को हम विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत कुछ उदाहरणों द्वारा पुष्ट करें। विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत नीति-रचनाओं के इस वर्गीकरण और विवेचन द्वारा हम हिन्दी-नीति-काव्य-परम्परा का पृष्ठभूमि सहित दिग्दर्शन भी पा सकेंगे।

*(१) व्यक्ति और धार्मिक रूढ़ियाँ*

(क) भाग्यवाद—सचराचर महीपीठ के सिर पर जिस सूर्य ने अपने पाद (किरण) डाले वह दिनेश्वर भी अस्तिमित हो जाता है। भवितव्य होकर ही रहता है, उसको रोकने वाला हुआ ही कौन?

**महवीढ़ह सचराचरह जिरिग सिरि दिण्हा पाय।**
**तसु अत्थमणु दिणेसरह होउत होउ चिराय॥**[१]

रहीम ने भी इस भवितव्य को समझा था—

**भावी काहू ना दही भावी दह भगवान्।**
**भावी ऐसी प्रबल है कहि रहीम यह जान॥**[२]

तैलपराज द्वारा विजित राजा मुञ्ज की अधोगति पर आँसू बहाते हुए कवि ने भी उसे समझाया था कि हे रत्नाकर गुणठा-पुञ्ज-मुञ्ज! चित्त में विषाद मत करो, क्योंकि जिस प्रकार विधाता का पटह (ढोल) बजता है उस-उस प्रकार इस मनुष्य को नाचना पड़ता है। तुम्हारा बस ही क्या!

**चित्त विसांउ न चिंतियइ, रयणायर गुणपुञ्ज।**
**जिम जिम वायइ विहिपडहु तिम नच्चिजइ मुञ्ज॥**[३]

दो-दो बादशाहों के शासन-काल में कभी स्वेच्छया और कभी परवश कठपुतली की तरह नाचते हुए रहीम ने भी इस मर्म का अनुभव किया था।

**ज्यों नाचत कठपूतरी करम नचावत गात।**
**अपने हाथ रहीम ज्यों नहीं आपने हाथ॥**[४]

(ख) नश्वरता—पराजित मुञ्जराज, तैलप के राज्य-क्षेत्र में घूमते हुए एक प्रसन्न परिवार को देखकर बोले—गर्व क्या? ए री भोली मुग्धे! इन भैंस के बच्चों को देखकर गर्व मत करो? मुञ्ज के तो चौदह सौ छिहत्तर हाथी थे, पर वे सब चले गए।

**भोली मुन्धि मा गव्वु करु पिक्खिवि पड्डुरवाइं।**
**चउदह सै छहुतरइं मुञ्जह गयह गयाइं॥**[५]

इतना ही क्यों? वह रावण भी कहाँ रहा जिसके पास लंका-जैसा गढ़ था, चतुर्दिक्

१. श्री मेरुतुंगाचार्य-कृत 'प्रबन्ध चिन्तामणि'; मुनि जिनविजय जी द्वारा सम्पादित; सिंधी जैन ज्ञानपीठ, शान्तिनिकेतन, बंगाल; १९३३ ई०, पृ० ९७।
२. 'रहिमन विलास', १३।१२९।
३. 'प्रबन्ध-चिन्तामणि', पृ० २३।
४. 'रहिमन-विलास', ६।५८।
५. 'प्रबन्ध-चिन्तामणि', पृ० २४।

सागर-जैसी खाई थी और गढ़पति त्रैलोक्य-विजयी स्वयं दशशीश था। हे मुञ्ज विषाद मत करो! नाश और निर्माण की अविराम प्रक्रिया ही तो संसार है।

**सायरु साइ लंकु गढ़ु, गढ़वइ दसशिर राउ।**
**भग्ग पइ सो भंजि गइ, मुञ्ज म करिउ विसाउ॥**[1]

इधर रहीम को भी जान पड़ता था कि :

**रहिमन भेषज के किए काल जीति जो जात।**
**बड़े-बड़े समरथ भए तो न कोउ मरि जात॥**[2]

२. *सामाजिक सम्बन्ध और उसकी नीतिपरक व्याख्याएँ*

(क) **स्वामी और भृत्य**—नीति-काव्यों में राज्य की कृपा पर आश्रित प्रायः सारा वर्ग 'भृत्यवत्' समझा गया है। इन मुक्तक काव्यों में उस राजा की प्रशंसा की गई है जो राज्य के वास्तविक शुभचिन्तकों की पहचान करता है और चापलूसों को वर्जित करता है। विशेषतः उस समय का कलाकार और कविवर्ग राज्याश्रय का मुहताज-सा था। केवल भक्ति-युग का कवि इस परम्परा का अपवाद था शेष सम्पूर्ण मध्यकालीन कवि और कलाकार परम्परा इन्हीं राजाओं के कृपाश्रय में फलती-फूलती रही। रहीम आदि ने जो राज्य-कृपा पर आश्रित लोगों पर इतना लिखा है वह इसी कारण कि उनको उसके कटु या मृदु अनुभव प्राप्त थे। मध्यकाल में राज्याश्रय कितना आवश्यक था, इस पर प्रकाश डालते हुए अपभ्रंश कवि कहता है कि या तो स्वयं प्रभु हो या फिर एक योग्य प्रभु का प्रिय हो। काम करने वाले मनुष्यों के लिए तीसरा मार्ग ही नहीं है :

**आपणइं प्रभु होइ यइ कइ प्रभु कीजिय अत्थि।**
**काजु करेवा माणुसह तीजउ मग्ग न अत्थि॥**[3]

रीतिकालीन सूक्तिकार वृन्द ने भी कहा था कि :

**छांड़ि सबल अरु निबल को कबहुँ न गहिए ओट।**
**जैसे टूटी डार सो लगै बिलबै चोट।**[4]

इनमें से जो मूढ़ सामन्त होते थे वे चापलूसों के गिरोह का सम्मान करते थे और सुभृत्यों का परित्याग। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सागर अपने ऊपर तो तृणों को बहने देता है और रत्नों को पदतल में डाल देता है :

**सायरु उप्परि तणु धरइ तलि धल्लइ रयणाइं।**
**सामि सुभिच्चु वि परिहरइ संमाणेइ खलाइं॥**[5]

बाबा दीनदयाल गिरि को यह बात पसन्द नहीं आई उन्होंने सीधे-सीधे सुभृत्यों को

---

१. **'प्रबन्ध-चिन्तामणि', पृ० २३।**
२. **रहिमन विलास, पृ० १६।१०५।**
३. **प्रबन्ध चिंतामणि, पृ० ८१।**
४. **सतसई सप्तक, वृन्द सतसई, पृ० २४२।३०५।**
५. **प्राकृत व्याकरण ४।३।३४।१;** Edited by S. P. Pandit & Dr. P. L. Vaidya, The Bhandarkar Oriental, Research Institute, Poona, 1936.

ऐसे दरबारों में जाने से रोक दिया है :

**नहि बिबेक जेहि देस में तहाँ न जाहु सुजान।**
**बच्छ जहाँ के करत हैं करिवर खर सम मान ॥**[1]

पर सभी सामन्त ऐसे नहीं थे उनमें से अधिकांश के सामने स्वामी का महान् आदर्श भी था। उनके सामने महाद्रुम का वह आदर्श था जो उन समस्त पल्लवों को अपनी गोद में रखता है जो लोगों के द्वारा फलों के चुन लिये जाने के बाद में वृक्ष पर बच रहते हैं।

**वच्छेहे गृण्हइ फलइ जणु कडु पल्लव वज्जेइ।**
**तो वि महद्दुम सुग्रणु जिवं ते उच्छंगि धरेइ ॥**[2]

रहीम ऐसे सभी राज्य-कृपाश्रित, अमरबेल की तरह जीने वाले व्यक्तियों को लक्ष्य करके कहते हैं कि :

**अमरबेल बिन मूल की प्रतिपालत है ताहि।**
**रहिमन ऐसे प्रभुहिं तजि खोजत फिरिए काहि ॥**[3]

**(ख) निर्धन और धनिक**—सामन्तवादी युग में भी आर्थिक विषमता काफी मात्रा में होती है। इस प्रकार के गठन के समाज में निर्धनों को समाज में सम्मान मिलना कठिन हो जाता है। सब गुण कांचन के आश्रित हो जाते हैं। सम्मान और श्रद्धा सामन्त का एक-मात्र प्राप्तव्य हो जाता है। ऐसी स्थिति में असम्मानित शासित वर्ग से उठने वाले कवि के सम्मान का एक-मात्र दाता वही सामन्त ठहरता है। सामाजिक और आर्थिक विषमताओं में टूटा हुआ मनुष्य यह दोष अपने भाग्य के मत्थे मढ़ता है। नीतिकार अपने इस प्रकार के विश्वास को दुहराता है कि ऋद्धिविहीन मनुष्यों का कोई सम्मान नहीं करता। उसी प्रकार जिस प्रकार शकुनि पक्षी फलरहित तरुओं को छोड़ देता है :

**ऋद्धिविहूणइ माणुसइ न कुणइ कुवि सम्माणु।**
**साउणिहि मुच्चउं फल रहिउ तरुवरु इत्थु पमाणु ॥**[4]

असम्भव नहीं कि इसमें ऋद्धिविहीन सामन्तों की ओर भी लक्ष्य किया गया हो जो अपने दैनन्दिन युद्धों आदि के कारण निरन्तर पतनशील होने की राह में खड़े रहते थे। इस दुर्दिन को रहीम ने भी लक्ष्य किया था :

**दुरदिन परे रहीम कहि, भूलत सब पहिचानि।**
**सोच नहीं बित हानि की, जो न होय हित हानि ॥**[5]

## उच्चादर्शवादिता

अपभ्रंश कवि की उच्चादर्शवादिता समाज-सापेक्ष है और उत्कृष्ट समाज-रचना में

१. दृष्टान्त तरंगिणी, दीनदयालगिरि ग्रन्थावली २६।७५।
२. प्राकृत व्याकरण ४।३३६।
३. रहिमन विलास २।८।
४. कुमारपाल प्रतिबोध—ले० सोम प्रभाचार्य, सं० मुनि जिनविजय जी, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरिज़, बड़ौदा, १९२०।
५. रहिमन विलास ६।९७।

प्रवृत्त है। उसने आकर्षणों के सारे जाल को विच्छिन्न करके अच्छे मनुष्य की खोज की थी और निर्भ्रांत होकर कहा था—'न तो सरिताओं से, न सरों से, न सरोवरों से और न तो उद्यान-वनों से ही किसी देश की रमणीयता बढ़ती है वरन् एक-मात्र सुजनों के निवास से ही किसी देश का गौरव बढ़ता है :

**सरिहिं न सरेहि न सरवरेहि, न वि उज्जाण वणेंहि ।**
**देस रवण्णा होत बढ़ निवसंतेंहिं सुजणेंहि ॥**[1]

बाबा दीनदयाल गिरि ने भी स्थल की शोभा वहाँ रहने वाले 'बुध' जनों से ही मानी थी :

**वहै बिराजत बल जहाँ बुध हैं सहित उमंग ।**
**लसै हेम जिहि अंग मे बसै प्रभा तिहि अंग ॥**[2]

अपभ्रंश कवि ने राह भी देखा था कि सम्पन्न लोगों से तो सभी लोग बातचीत करते हैं; लेकिन आर्तजनों को वही 'मा भैषीः' कहते हैं जो सज्जन होते हैं।

**सत्थावत्थहं आलवणु साहु विलोउ करेइ ।**
**आदन्नहं मब्भीसडी जो सज्जणु सो देइ ॥**[3]

सहृदय रहीम का भी यही निश्चय था :

**जे गरीब परहित करें ते रहीम बड़ लोग ।**
**कहा सुदामा बापुरो कृष्ण मिताई जोग ॥**[4]

इन उच्चादर्शों वाले भारतीय नीतिकार का प्रमुख आदर्श है—संतुष्ट जीवन। उसने कहा है कि गिरि से शिलातल, तरुओं से फल असामान्य भाव से प्राप्त होता है किन्तु तभी मनुष्यों को अरण्य नहीं अच्छा लगता :

**गिरिहे सिलायलु तरुहे फलु घेप्पइ निःसावन्नु ।**
**घरु मेल्लेबिणु माणुसहं तो वि न रुच्चइ रन्नु ॥**[5]

रहीम ने इसी बात को इस प्रकार प्रस्तुत किया है :

**तरुवर फल नहिं खात है सरवर पियहिं न पान ।**
**कहि रहीम परकाज हित सम्पति सचहि सुजान ॥**[6]

*अन्योक्ति और स्वभाव-प्रदर्शन*

इसमें कुछ वस्तुओं के उत्कृष्ट या निकृष्ट स्वभाव की ओर इशारा किया जाता है और उसकी संगति जीवन से बैठाई जाती है। यह वस्तु प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों रूपों में सामने आती है। इसमें एक प्रकार की तथ्यमूलकता (Malter of fact) भी होती है। आगे इन तथ्यों का विश्लेषण अपने आप होता जायगा—

१. प्राकृत-व्याकरण ४।४२२।१० ।
२. दीनदयालगिरि ग्रन्थावली २९।७५ ।
३. प्राकृत-व्याकरण ४।४२२।१६ ।
४. रहिमन-विलास ६।६२ ।
५. प्राकृत-व्याकरण ४।३४१।१ ।
६. रहिमन विलास ८।२७ ।

१. अन्योक्ति के माध्यम से कवि कहता है कि जिन्हें दुर्लभ की इच्छा भली लगती है वे दूरी नहीं गिनते। कमलों को छोड़कर भ्रमर हाथियों के कुम्भस्थलों की इच्छा करते हैं :

**कमलइं मेल्लवि अलि-उलइं करि-गण्डाइ महंति।**
**असुलहमेच्छण जाहं गलि ते णवि दूर गणंति॥**[१]

अन्योक्तिकार दीनदयाल गिरि ने भी इसी बात को इस रूप में प्रकट किया था :

**श्री को उद्यम के बिना कोऊ पावत नाहिं।**
**लिये रतन अति जतन सों सुर-असुरन दधि माहिं॥**[२]

वृन्द के शब्दों में :

**श्रम ही तें सब मिलत है बिनु श्रम मिलै न काहि।**
**सीधी अंगुरी घी जम्यो क्योहूँ निकरै नाहि॥**[३]

असुलभ की आकांक्षा के लिए मनुष्यों को असाधारण प्रयत्न करने होते हैं—यही इन दोहों का वर्ण्य है।

२. अवसर और मर्यादा इन दोनों बातों का महत्त्व श्रेष्ठ पुरुषों के लिए सर्वाधिक है। अपभ्रंश कवि कहता है जीवन किसे नहीं प्यारा है और धन भी किसे नहीं इष्ट है, पर विशिष्ट लोग अवसर आ पड़ने पर इसे तृण के समान गिनते हैं :

**जीविउ कासु न वल्लहउ, धणु-पुणु कासु न इट्ठु।**
**दोण्णि वि अवसर निवडिअइं तिण सम गणइ विसिट्ठु॥**[४]

वृन्द ने भी कहा है :

**तन-धन इ दै लाज के जतन करत जे धीर।**
**टूक-टूक ह्वै गिरत पै नहिं मुख फेरत बीर॥**[५]

अवसर और मर्यादा यह दोनों ही विशिष्ट और वीर व्यक्तियों को प्राणाधिक प्रिय होते हैं। इनके लिए यौवन और धन इन दोनों की वे किंचिन्मात्र भी परवाह नहीं करते।

३. हे पपीहा ! निसूरुण होकर बारम्बार बोलने से क्या लाभ ? विमल जल से सागर के भरने पर भी तू एक धार तक नहीं पायगा :

**बप्पीहा कइ बोलिएण निग्घिण बार इ बार।**
**सायरि भरिअइ विमल जलि लहइ न एकु वि धार॥**[६]

वृन्द के अनुसर—

**सेयो छोटो ही भलो जासों गरज सराय।**
**कीजै कहा पयोधि कों जातें प्यास न जाय॥**[७]

---

१. प्राकृत व्याकरण ४।३५३।१।
२. दीनदयाल गिरि ग्रन्थावली ७३।८।
३. सतसई सप्तक; वृन्द सतसई ३७१।१८९।
४. प्राकृत व्याकरण, ४।३५८।२।
५. सतसई सप्तक, वृन्दसतसई, ३३६।६३६।
६. प्रकृत व्याकरण, ४।३८३।२।
७. स० स०, वृ० स०, ३०१।१८८।

निश्चय ही यहाँ निष्करुण साधन-सम्पन्न व्यक्तियों पर व्यंग्य किया गया है और उनके यहाँ जाने का निषेध किया गया है। 'प्राकृत व्याकरण' में इसी बात को और प्रखर बनाते हुए एक स्त्री एक पथिक से कहती है कि यदि बड़े घरों को पूछते हो तो वह वे हैं, लेकिन यदि विह्वलित जनों के अभ्युधारक मेरे कन्त के कुटीर को चाहते हो तो वह यह है :

**जइ पुच्छइ घर वड्डाहं तो वड्डा घर जोइ।**

**विहलिअ जणु अब्भुधरणु कत कुडीरइ जोइ॥**[1]

दीनदयाल गिरि के शब्दों में :

**मानत हैं बहु दीन कों आए सरन महान।**

**हीन कला ससि शीश में धारत ईस सुजान॥**[2]

४. कवि मान-धन का महत्त्व बताते हुए कहता है, हे कुञ्जर सलक्किओं को मत सुमिर, जो कवक (ग्रास) प्राप्त हैं उन्हें चर और मान मत छोड़ !

**कुञ्जर सुमिरि म सल्लइउ सरला सांस न मेल्लि।**

**कवल जि पावय विहि-विसिए ते चरि माणु म मेल्लि॥**[3]

यही विवशता सर के सूखने के बाद मीन को भी होती है। रहीम ने कहा है :

**सर सूखे पंछी उड़ें औरे सरन समाँहि।**

**दीन मीन बिनु पच्छ के कहु रहीम कहँ जाँहि॥**[4]

ऐसे उपेक्षितों को अपना मान रखकर प्रतीक्षा करनी चाहिए। इस बात को अपभ्रंश कवि ने इस प्रकार कहा है कि हे भ्रमर, अब यहीं नीम पर कुछ दिन तक विरम, जब तक घने पत्तों वाला छाया-बहुल कदम्ब नहीं फूलता :

**भमरा एत्थु वि लिम्बिडइ के वि दियहडा विलम्बु।**

**घण पत्तलु छाया बहुलु फुल्लइ जाय कयम्बु॥**[5]

बिहारी की भी यही सम्मति है :

**यहै आस अटक्यो रह्यो अलि गुलाब के मूल।**

**ऐहैं बहुरि बसन्त ऋतु इन डारन वे फूल॥**[6]

५. लक्ष्मी के चांचल्य को लक्षित करके अपभ्रंश कवि कहता है कि वहाँ यहाँ घर-द्वार पर लक्ष्मी अस्थिर होकर दौड़ रही है प्रिय से वियुक्त गोरी की तरह कहीं भी निश्चल नहीं रहती :

**एत्तहे तेत्तहे वारि धरि लच्छि विसंठुल छाइ।**

**पिअ पब्भट्ठ व गोरडी निच्चल कहिं बिन ठाइ॥**[7]

---

१. प्राकृत व्याकरण. ४।३६४।१।
२. दीनदयाल गिरि ग्रन्थावली, ७।७३।
३. प्राकृत व्याकरण, ४।३८६।१।
४. रहिमन विलास, ३२।२४५।
५. प्राकृत व्याकरण, ४।३८७।२।
६. बिहारी सतसई, स० स० ७०।१२१।
७. प्राकृत व्याकरण, ४।४१६।१।

रहीम ने कहा है :

**कमला थिर न रहीम कहि, यह जानत सब कोय ।**
**पुरुष पुरातन की बधू क्यों न चंचला होय ।।[१]**

इन कतिपय स्वभाव-कथन-सम्बन्धी उदाहरणों के तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा यह विशेषतया स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी की नीति-काव्य-परम्परा भी सीधी अपभ्रंश से विकसित हुई है ।

: ४ :

वस्तुतः नीति-तत्त्व आचार-शास्त्र (Ethics) से सम्बन्धित है, किन्तु हर युग का कवि इस तत्त्व का ग्रहण अपने काव्य में अनायास कर लेता है । आधुनिक युग में भी सुख-दुःख की सर्वविषयगत समस्या से कवि चालित होता है और अपने काव्य में किसी-न-किसी रूप में अपनी तत्त्व-दृष्टि को सामने कर ही देता है । मध्ययुग का कवि कम-से-कम इस अर्थ में आधुनिक कवि से अधिक स्वतन्त्र था । वह नीति और उपदेश को अपना काव्य-विषय बना सकता था जब कि आधुनिक कवि सीधे नीति-कथन और उपदेश-ज्ञापन को कलागत स्तर का स्खलन मानता है । मध्ययुगीन कवि इसलिए अधिक स्वच्छन्दतापूर्वक नीति और उपदेश-तत्त्व को काव्य-वस्तु बना पाता था, क्योंकि तत्कालीन काव्य का मूल प्रेरणा-स्रोत धर्म था । आज के कवि का प्रेरणा-स्रोत पहले सौन्दर्य-बोध और आत्माभिव्यक्ति है । उपदेश और सीधे नीति-तत्त्व को वह एकदम काव्यवस्तु नहीं मानता । लेकिन प्रत्येक युग का काव्य-प्रतिमान और तत्कालीन काव्य का प्रेरणा-स्रोत एक नहीं होता ।

मध्ययुगीन हिन्दी नीतिकार नीति का ग्रहण जब काव्य में करते थे तब उसे शुष्क तत्त्वोपदेश-मात्र नहीं रहने देते थे । उन्होंने भी शुद्ध नीति और तत्त्वोपदेश को काव्य-सीमा से बाहर की वस्तु माना था । नीति और तत्त्वोपदेश को सरस काव्य बनाने के लिए उन्होंने काव्य के प्रसाधक तत्त्वों का ग्रहण किया । चित्र, बिम्ब, अलंकरण, लोकोक्ति अनेक अभि-व्यक्ति-साधन उन्होंने स्वीकार किए । यहाँ संक्षेप में उन साधनों का विवेचन अभीष्ट है ।

**उक्ति-बंकिमा**—यह एक व्यवहारसिद्ध बात है कि मनुष्य हृदयस्पर्शी वस्तु या कथन को शीघ्र स्वीकार कर लेता है । नीति-काव्य श्रेष्ठतर जीवन के आदर्शों को हमारे व्यवहार का इतनी शीघ्रता से अंग बना देता है जितनी शीघ्रता से युगों का शास्त्रार्थ नहीं । काव्य प्रेरणाजीवी है । प्रेरणा से वह आरम्भ होता है और प्रेरणा में ही पर्यवसित । यही कारण है कि नीति-काव्य उक्ति-बकिमा स्वीकार करके प्रेषणीयता और प्रेरकता के गुण से युक्त हो जाता है ।

**प्रत्युत्पन्नमतित्व**—अवसर की पहचान और उस पर औचित्यमूलक तात्कालिक उक्ति-विधान ही प्रत्युत्पन्नमतित्व है । यह उक्ति-विधान आकस्मिकता के तत्त्व से पूर्ण होता है । नीति-काव्य के लिए कवि में प्रत्युत्पन्नमतित्व आवश्यक है ।

**अलंकार-योजना**—सरल अलंकार-योजना के द्वारा कथन का प्रभाव बढ़ता है । मध्यकालीन नीति कवियों ने दृष्टान्त, अन्योक्ति, उपमा आदि अलंकारों का प्रायः प्रयोग

---

१. **रहिमन विलास, ३।२३ ।**

किया है। दृष्टान्त और अन्योक्ति नीति-काव्य के ये दो प्रधान साधन हैं। कभी-कभी अन्योक्ति द्वारा ही नीति-कथन होने के कारण 'अन्योक्ति' नीति-काव्य की शैली-विशेष भी मानी जाती है। इन सभी अलंकारों और शैलीगत, शिल्पगत शिल्प योजनाओं से चित्र-कल्पना को प्रोत्साहन मिलता है और चित्र-कल्पना से भाव-बोध को।

**स्वाभाविक शब्द-चयन**—जितनी नीति-रचनाओं का विवेचन ऊपर किया जा चुका है उससे स्पष्ट है कि नीति-काव्य में भाव-वाहक शब्द अत्यन्त सरल और चुभने वाले होने चाहिएँ। इसके अभाव में रचना का प्रसाद गुण कम होता है। यदि रचना की प्रसाद-गुणिता बाधित हो गई तो उसकी प्रेषणीयता ही सन्दिग्ध हो जायगी। इसीलिए लोक-भाषा का सहज, सुथरा और मधुर रूप सभी नीतिकारों ने अपनाया है। दोहों की भाषा में सामासिकता के आगमन की सहज सम्भावना को भी नीतिकारों ने कुशलतापूर्वक बचाया है।

**लोकोक्ति-प्रयोग**—नीति-काव्य की भाषा की शक्ति को सबसे बड़ा आधार लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग है। मुहावरों में एक लघु परिवेश की परम्परागत बुद्धिमत्ता द्वारा, एक विशिष्ट परिस्थिति के उपयुक्त किया गया सम्पूर्ण निष्कर्ष शब्दबद्ध हो जाता है। कभी-कभी तो नीति की ये रचनाएँ किसी-किसी लोकोक्ति को मेरुदण्ड-रूप में स्वीकार करके चलती हैं।

अपभ्रंश-काव्य से चुनी हुई कुछ लोकोक्तियाँ नीचे दी जाती हैं :

१. **जाम न निवडइ कुम्भ-मडि सीह चवेड चडक्क।**
**ताम समंतह मयगलह पइ पइ बाजइ ढक्क॥**[१]

२. **प्राइव मुणिहं वि भन्तडी तें मणिअणा गणन्ति॥**[२]

३. **मंजिट्ठए अइरत्तिए सव्वु सहेव्वउ होइ॥**[३]

४. **मूलि विणट्ठइ तुम्बिणहे अवसे सुक्कहिं पण्णइं॥**[४]

५. **जिवं जिवं वड्डत्तणु लहइ तिवं तियं नवहिं सिरेण॥**[५]

कुछ उदाहरण हिन्दी की 'वृन्द सतसई' से लिये जा सकते हैं। पानी पीकर घर पूछना,[६] पाँव कुल्हारी आपनो मारतु मूरख हाथ,[७] कर कंगन को आरसी,[८] होनहार सो होय,[९] भेड़ चाल संसार,[१०] आग लगे पर मेह,[११] पैंड पैंड इ चलत जो पहुँचै

१. **प्राकृत व्याकरण**, ४।४०५।१
२. „ „ ४।४१४।२
३. „ „ ४।४३८।२
४. **वही**, ४।४२६।१
५. **वही**, ४।३६७।३
६. **वृन्द सतसई, (सतसई सप्तक)** ३१७-३६०
७. „ „ ३१८-४०६
८. „ „ ३१९-४२४
९. „ „ ३२२-४५५
१०. „ „ ३३३-६०३
११. „ „ ३३३-६०६

कोस हजार,[1] चोली दामन ज्यौं रच्यौ,[2] टूक-टूक ह्वै गिरत[3], आदि। केवल इन लोकोक्तियों का निष्कर्ष ही दृष्टान्त-परिपुष्ट होकर इन दोहों में विस्तृत हो गया है। ऊपर उद्धृत लोकोक्तियों के ऐतिहासिक काल को देखने से यह भी पता चलता है कि हमारे बीच आज भी प्रयुक्त ये सीधे-सादे मुहावरे कितने पुराने हो चुके हैं लेकिन इनकी जीवनी-शक्ति कितनी अक्षय है।

---

१. वृन्द सतसई, (सतसई सप्तक) ३३४-६१२
२. ,, ,, ३३४-६१७
३. ,, ,, ३३६-६३६

डॉक्टर दशरथ ओझा

# हिन्दी नाटक में प्रथम गद्य-प्रयोग

भारतीय नाट्यकला के प्रधानत: दो केन्द्र रहे हैं—(१) राजप्रासाद (२) खुले रंगमञ्च। शास्त्रज्ञाता पण्डितप्रवर राजाश्रय में रहकर राजपुरुष, एवं नागरिकों के मनोरंजन के लिए राजकीय नाट्यशालाओं के उपयुक्त नाटकों की रचना करते तो प्रतिभा-सम्पन्न अर्धशिक्षित ग्रामीण अपने व्यवसाय से अवकाश पाने पर सामान्य जनता के अनुरूप जननाटकों का सृजन करते रहे। दूसरे वर्ग के नाट्यकारों की न कोई रंगशाला होती थी और न नाट्य-शास्त्र की गतिविधि से अभिज्ञ होने की इन्हें लालसा होती। निम्न मध्यम वर्ग में उत्पन्न ये लोक-नाट्यकार जनप्रिय कथानकों के आधार पर गीतों के माध्यम से अभिनय के द्वारा रस की वर्षा करते।

१५वीं शताब्दी में हिन्दी-नाट्यकारों का एक तीसरा वर्ग भी था। इस वर्ग के उद्भट विद्वान् महात्मा संस्कृत और लोक-प्रचलित नाट्य-पद्धतियों के मिश्रण से एक अभिनय नाट्य-शैली का प्रयोग कर रहे थे और उन्होंने देवालयों को केन्द्र बनाकर संस्कृत-मिश्रित हिन्दी के माध्यम से वैष्णव-धर्म का परिज्ञान कराया। इस युग में वैष्णव-धर्म का सर्वत्र प्रचार हो रहा था। समस्त उत्तर और दक्षिण भारत वैष्णव-भक्तों के मधुर गीतों से गुञ्जरित हो रहा था। इन गेय पदों को गाकर तथा रंगशाला में इन्हें अभिनेय बनाकर कविगण वैष्णव धर्म का प्रसार करते। ये सन्त महात्मा रामकृष्ण, ध्रुव-प्रह्लाद आदि विविध अवतारों की लीलाएँ नाटक के रूप में जनता के सम्मुख प्रदर्शित करते। अभिनय-कला इनका सम्पर्क पाकर पावन बन गई। प्रेम-क्रीड़ा इनके सान्निध्य में परमार्थ साधक हो गई। सौन्दर्य स्वर्गीय बन गया। लौकिकता अलौकिक गुण-सम्पन्न बन गई। गेय पदों की रचना के साथ गीति-नाट्यों का भी सृजन इनकी विशेषता थी। इन्हीं दिनों मन्दिरों के संरक्षण में रासलीला और रामलीला का प्रचार बढ़ा। अष्टछाप के कवि लीला-पदों की रचना—मन्दिरों में गाने और रासलीला में अभिनय के उद्देश्य से—करते रहे। इन सन्त-महात्माओं में सर्वप्रथम गद्य का प्रयोग करने वाले स्वामी शंकरदेव एवं माधवदेव नामक दो वैष्णव थे। माधवदेव शंकरदेव के शिष्य थे। उन्होंने अपने गुरुदेव की परम्परा को आगे बढ़ाया। इन दोनों महात्माओं ने स्थान-स्थान पर नाम-घर (सत्र) का निर्माण किया। वैष्णव भक्त रामायण और महाभारत की कथाओं का अभि-नय गद्य-पद्य के माध्यम से प्राय: समस्त उत्तर भारत में दिखाते रहे। इनके धार्मिक नाटक 'अंकियानाट' के नाम से प्रसिद्ध हुए। चिरकाल तक ये अंकिया नाटक मध्य-युग की सांस्कृतिक चेतना के उन्नायक बने। संस्कृत-हिन्दी मिश्रित इस नाट्य-शैली और उसके निर्माता का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है।

हम पूर्व कह आए हैं कि हिन्दी-गद्य का सर्वप्रथम प्रयोग शंकरदेव ने किया। स्वामी शंकरदेव बंगाल के नवगाँव जिले के बरदोआ तालुके के प्रधान (शिरोमणि) कायस्थ कुलोद्भव श्री राजधर के प्रपौत्र, सूर्यवर के पौत्र, कुसुमवर एवं सत्य-सन्धा के पुत्र थे। आपका जन्म सन् १४४६ ई० में हुआ। जन्म के १५वें दिन इनकी माता का स्वर्गवास हो गया। शैशव में ही पिताजी भी चल बसे। इनकी मातामही खेरसुति ने इनका पालन-पोषण किया। बाल्यकाल में इनका घनिष्ठ मित्र रामराम खेल-कूद में इनका साथी रहा।

बाल्यकाल में इनकी शारीरिक शक्ति एवं इनका अदम्य उत्साह देखकर लोगों को आश्चर्य होता। बारह वर्ष की अवस्था में ही ये वर्षा ऋतु में प्लावित ब्रह्मपुत्र नदी को तैरकर पार कर जाते। मातामही के आग्रह से इन्होंने उस काल के प्रसिद्ध विद्वान् महेन्द्र कन्दली से अध्ययन प्रारम्भ किया। पूर्व जन्म के संस्कार एवं नैसर्गिक प्रतिभा के बल से अचिरात् इन्होंने वेद-शास्त्र, व्याकरण एवं साहित्य का विधिवत् अध्ययन कर लिया। अध्ययन के उपरान्त संसार के प्रति इनकी विरक्ति देखकर इनके पितृव्य ने ताल्लुके का शासन-भार इनके ऊपर रख दिया। उन्नीस वर्ष की अवस्था में अपनी तेजस्विता के बल पर इन्होंने धर्म-प्रचार प्रारम्भ कर दिया। 'श्रीमद्भागवत' पुराण और 'भगवद्गीता' के आधार पर इन्होंने धर्म के एक नये रूप को एक नई शैली में जनता के सामने रखा। यह शैली संस्कृत के आचार्यों की तर्क-वितर्क शैली से पृथक् थी। इसमें संस्कृत के नाट्य-विधान के नियन्त्रण को न तो पूर्णतया स्वीकार किया गया और न सर्वथा इसको त्याज्य माना गया। शंकराचार्य एवं रामानुज द्वारा प्रतिपादित अद्वैत और विशिष्टाद्वैत नामक सिद्धान्तों को प्रेम-रस से सिक्त करके संस्कृत-मिश्रित-हिन्दी के माध्यम से धर्म का एक नया रूप प्रस्तुत किया गया। इस प्रकार भाषा और शैली, दर्शन और साहित्य, ज्ञान और भक्ति सबके सामंजस्य से शंकरदेव ने जीवन-दर्शन का एक नया स्वरूप खड़ा किया जिसका प्रभाव शताब्दियों तक परिलक्षित होता रहा।

शंकरदेव ने श्रव्य और दृश्य दोनों प्रकार के काव्यों द्वारा अपने जीवन-दर्शन का प्रचार किया। उन्होंने श्रव्य के रूप में 'हरिश्चन्द्र उपाख्यान', 'भक्ति प्रदीप', 'कीर्तन घोषा', 'वरगीत', 'रुक्मिणीहरण', '१२ स्कन्धों में महाभागवत', 'गुनमाला', 'रामायण', 'भक्ति रत्नाकर' आदि ग्रन्थों की रचना की। इनके अतिरिक्त उन्होंने 'पत्नी प्रसाद', 'रुक्मिणीहरण, 'कालिदमन', 'केलि गोपाल', 'पारिजात हरण' एवं 'रामविजय' नामक अंकियानाट भी विरचित किए। हम इस स्थान पर उनके अंकिया नाट का ही विवेचन करेंगे।

दर्शन शास्त्र, संस्कृत व्याकरण एवं साहित्य के पाण्डित्य तथा तत्कालीन जन-रुचि ने इन्हें हिन्दी-नाटकों में भी संस्कृत-नाट्य-शैली को यत्र-तत्र स्थान देने को बाध्य किया। यद्यपि इन्होंने नान्दी, प्रस्तावना एवं भरतवाक्य आदि पारिभाषिक पदावली का प्रयोग नहीं किया है तथापि शास्त्रीय नियमों के परिपालन का प्रयास अवश्य पाया जाता है। नान्दी में आठ या बारह चरण होते हैं और किसी देवता की आराधना की जाती है। शंकरदेव के प्रायः सभी नाटकों में यह पद्धति अपनाई गई है। प्रत्येक नाटक के नान्दी में तदनुकूल देव-वन्दना की गई है। 'पत्नी प्रसाद', 'रुक्मिणी हरण', 'पारिजात हरण', 'केलि गोपाल' में श्रीकृष्ण की वन्दना आठ पदों में की गई है और 'रामविजय नाट' में भगवान् श्रीरामचन्द्र जी की आराधना उतने ही पदों में सम्पन्न होती है।

शंकरदेव मूलतः कृष्ण भक्त थे उनका मन कृष्ण के गुण-गान में प्रधान रूप से रमता था। किन्तु 'रामविजय' नाटक में उन्होंने राम का स्मरण अत्यन्त भक्ति-भाव के साथ किया है। जैसा निम्नलिखित उद्धरणों से प्रतीत होता है :

**उन्नामाखिल लोक-शोक-शमनं यन्नाम प्रेमास्पदं**
**पापापार पयोधितारणविधौ यन्नाम पीनःप्लवः।**
**यन्नाम श्रवणात् पुनाति श्वपचः प्राप्नोति मोक्षं क्षिभो**
**तं श्री रामयशं महेशवरदं वन्दे सदा सारदम्।।**

इसी प्रकार राम की लीलाओं का वर्णन करते हुए वे आगे कहते हैं :

**येनाभाजि धनुः शिवस्य सहसा सीता समाश्वासिता**
**येनाकारि पराभवो भृगुपतेर्वासस्य रामस्य च।**
**वंदेह्याः विधिवद्विवाहमकरोत् निर्जित्य यः पार्थिवान्।**
**युष्माकं नितनोतु शं स भगवान् श्री रामचन्द्रश्चिरम्।।**

हम पूर्व कह आए हैं कि शंकरदेव ने संस्कृत और तत्कालीन दोनों पद्धतियों का सामञ्जस्य करने का प्रयास किया है। जहाँ उन्होंने नान्दी में आठ अथवा बारह पदों में संस्कृत श्लोकों की रचना की है वहीं विभिन्न रागों में गाने योग्य हिन्दी गीतों की भी रचना (नान्दी रूप में) की है।

'रुक्मिणीहरण', 'पारिजातहरण', 'पत्नीप्रसाद', 'रामविजय' आदि सभी नाटकों में आठ संस्कृत पदों के उपरान्त हिन्दी गीतों के माध्यम से उन्हीं देवताओं की आराधना की गई है। उदाहरण के लिए देखिए :

**जय जग जीवन मुरार**
**पावे परनाम हमार (ध्रुव)**
**पद—पंचमुहे याहे तुति बुलि**
**शिरे हर धर पदधूलि।।**
**याहे सुरासुर कह सेवा**
**सोहि मोहि गति देव देवा।।**
**रिपु नृप सब योहि जिनि।**
**हरल हरखे रुक्मिनि।।**
**करल हरि विविध विलासा।**
**कहतु शंकर हरि दासा।।**

**—रुक्मिणीहरण**

इस प्रकार यदि ध्रुव को पृथक् कर दें तो आठ पदों में नान्दी का रूप दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार 'रामविजय नाट' में भी संस्कृत के उपरान्त हिन्दी गीतों के माध्यम से नान्दी का स्वरूप देखिए :

*गीत*—[राग सोहाई, एक तालि]
**जय जगजीवन राम।**
**कयलो पड़ि परणाम।**

याहे नाम गुण मुहे गाइ ।
पापी परम पद पाई ।।
ओहि भवताप अपारा ।
याहे स्मरणे करु पारा ।।
अजगव भंजनकारी ।
पावस जनककुमारी ।।
नृपसब छेवल वाणे ।
कृष्णकिंकर एहु भाणे ।

शंकरदेव ने नान्दी के उपरान्त सूत्रधार का प्रवेश कराया है। भास की 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः प्रविशति' नामक पद्धति को हम उनके अधिकांश नाटकों में पाते हैं। 'रुक्मिणी-हरण' में हिन्दी गीत के उपरान्त शंकरदेव लिखते हैं 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः अलमिति विस्तरेण। प्रथमं माधवो माधवेत्युच्चार्य नत्वा नारायणं सभासदान् सम्बोध्याह—

भो भोः सभासदाः साधु शृणुध्वं श्रद्धयाधुना ।
रुक्मिणीहरणं नाम नाटक मुक्तिसाधकम् ।।

इसी प्रकार रामविजय नाट में इस प्रकार उद्धरण मिलता है—

**नान्द्यन्ते सूत्रधारः। अलमतिविस्तरेण। प्रथमं माधवो-माधव इत्युक्त्वा श्रीरामचन्द्र प्रणम्य सभासदः सम्बोध्य आह—**

भो भो सामाजिकाः! यूयं शृणुतावहितं बुधाः ।
श्री रामविजयं नाटकं मोक्ष साधकम् ।।

'पारिजात हरण', नाटक में नान्दी के अन्त में सूत्रधार सामाजिक को सम्बोधित करते हुए कहता है—

**भो भो सामाजिका, ईश कृष्णस्य जगतःपतेः श्री पारिजातहरण-यात्रा सम्प्रति पश्यत ।**

उपर्युक्त उद्धरणों से यह प्रमाणित होता है कि स्वामी शंकरदेव के अन्तःकरण में संस्कृत शैली का मोह अवश्य था। उन्होंने नान्दी पाठ के अन्त में सूत्रधार को प्रविष्ट किया है और तदुपरान्त भास के सदृश उससे भी मंगल-श्लोक के रूप में देव-वन्दना कराई है।

*जन-नाट्यशैली—*

संस्कृत नाट्य-शैली का परित्याग एवं जन-नाट्य-शैली का ग्रहण यहीं से प्रारम्भ होता है। संस्कृत नाटकों में प्रस्तावना के उपरान्त सूत्रधार रंगमञ्च पर नहीं आता किन्तु जन-नाट्य-शैली में वह आद्योपान्त विद्यमान रहकर पूर्वापर प्रसंग को संयुक्त करता चलता है। शंकरदेव के नाटकों में जब कोई नया पात्र रंगमञ्च पर प्रवेश करता है तो सूत्रधार उसका परिचय देता है। उसके प्रवेश का उद्देश्य और पात्र का रूप-वर्णन भी वही गीत के माध्यम से स्पष्ट करता है। प्रमाण के लिए 'रुक्मिणीहरण' नाटक में देखिए—

**सूत्रधार—सखि सब सहित से रुक्मिणी जैन्चे प्रवेश कयल ता देखह सुनह निरन्तरे हरि बोल हरि बोल—**

गीत—[राग सुहाई, मान एकतालि]

ध्रु व—आवत रुक्मिणी कयो पयसार ।
सखि सब संगे रंगे करत विहार ।।
पद—ईषत हसित मुख चान्द उजोर ।
दशन मोतिम येचे नयन चकोर ।।
मणिक मुकुट कुण्डल गंड डोल ।
कनक पूतली तनु नील निचोल ।।
कर कंकण केयूर झणकार ।
माणिक कांचि रचित हेमहार ।।
चलाइते चरण मंजीरी करु रोल ।
रूपे भुवन भूले शंकर बोल ।।

( सखी लीलावती सखी मदन मंजरी सहित रुक्मिणीर प्रवेश )

यह उद्धरण इस तथ्य का प्रमाण है कि शंकरदेव ने सूत्रधार को अपने नाटकों में वही ान दिया है जो जन-नाटकों में भागवत, व्यास, व्यवस्थापक अथवा समाजी को दिया जाता । उन्होंने पात्रों के प्रवेश एवं निर्गमन का संकेत तो संस्कृत-शैली के अनुसार किया है किन्तु ात्रों के परिचय और रूप-लावण्य के वर्णन में जन-नाट्य-शैली का अनुसरण किया है ।

सूत्रधार पात्रों के प्रवेश एवं परिचय में हिन्दी-गद्य-पद्य के साथ-साथ संस्कृत श्लोकों ा प्रयोग भी करता चलता है । 'रुक्मिणी हरण' नाट में सूत्रधार अपने साथी से वार्तालाप रते हुए कह रहा है ।

संगी—सखि देव दुन्दुभि बाजत !
त्र—आहे देव दुन्दुभि बाजत, आः से परमेश्वर श्रीकृष्ण मिलल ।
श्लोक—प्रवेशमकरोत् कृष्णः स्तकान्ता कामकोटि जित् ।
जगतां जनको धाता सोद्धवः साधुबान्धवः ।।"

सी श्लोक का अर्थ स्पष्ट करते हुए सूत्रधार सभासदों को सम्बोधित करता है—

आहे सभासद ! याकर कथाकहइछि सोहि श्रीकृष्ण उद्धव सहित आवत, ए आवत इति संगी निष्क्रान्तः) ।"

हम कह गए हैं कि शंकरदेव का सूत्रधार जननाटक-शैली का अनुसरण करता हुआ नटों और सामाजिक के बीच सम्बन्ध जोड़ता चलता है। उस प्रक्रिया में आवश्यकतानुसार यह संस्कृत नाट्य-शैली एवं जन-नाट्य-शैली दोनों का प्रयोग करता चलता है । एक पात्र के प्रवेश का प्रभाव दूसरे पात्र पर क्या पड़ता है इसका वर्णन पात्रों के हावभाव और मुखमुद्रा के अतिरिक्त सूत्रधार अपने शब्दों द्वारा सामाजिक को बताता चलता है। नाटक में यह एक बड़ा दोष माना जा सकता है । इस क्रिया में सूत्रधार अपने अधिकार से बाहर चला जाता है । आश्चर्य तो यह है कि इस प्रभाव का वर्णन शंकरदेव कहीं-कहीं संस्कृत श्लोकों के माध्यम से भी करते दिखाई पड़ते हैं । जैसे 'रुक्मिणी हरण' नाट में कृष्ण का दर्शन होने पर रुक्मिणी की मनोगति का वर्णन करते हुए सूत्रधार करता है—

कृष्णस्य रूपलावण्यं श्रवणेन विमोहिता ।
ददौ तच्चरणाम्भोजं भजनीयं सतां सती ।।

इसी का अर्थ स्पष्ट करने के लिए सूत्रधार हिन्दी में कहता है—

हे राजकुमारी रुक्मिणी, कृष्णाक रूप-लावण्य शुनिए मोहित हुआ यै चे कृष्णाक चरन चिन्तिए रहल आहे लोक ताहे देखह शुनह निरन्तरे हरिबोल-हरिबोल ।

पट-परिवर्तन

अंकित नाट में दृश्य-परिवर्तन की पद्धति नहीं । नाटक जिस दृश्य से प्रारम्भ होता है उसी से उसका पर्यवसान भी होता है । पट-परिवर्तन की आवश्यकता नहीं ।

सूत्रधार रंगमंच पर बैठकर आवश्यकतानुसार पात्रों को दूर भेजता है और उन्हें स्वेच्छा से बुला भी लेता है । जब कोई पात्र दूर देश की यात्रा करता है तो सूत्रधार उसकी अनुपस्थिति में उसका विवरण देता चलता है । 'रुक्मिणी हरण' नाट में रुक्म राजा की राजधानी में नाटक प्रारम्भ होता है । जिस समय रुक्मिणी अपनी सखियों से वार्तालाप करती है उसी समय द्वारका देश से वेदनिधि नामक भिक्षुक आता है और कृष्ण के रूप-गुण का वर्णन करता है । रुक्मिणी कृष्ण के गुण-श्रवण से मुग्ध होकर एक पत्र ब्राह्मण द्वारा कृष्ण के पास भेजती है । ब्राह्मण रुक्मिणी को आश्वासन देकर कृष्ण के पास जाता है । सूत्रधार उसकी यात्रा का विवरण इस प्रकार देता है :

**कुमारीक आश्वास बुलिए वचन**
**द्विज द्वारका क लागि कयल गमन ।।** ध्रुव ।।

पद **छांड़ल नगर गिरि अरण्य आशेप ।**
**मेल द्वारवती पुरी विप्र परवेश ।**
**मनोहर नागर सागर मह थिक ।**
**कर परकाश सुर पुरीक अधिक ।**
**जगत विभूति तथि मेलि एकु थान ।**
**हरि पुरी देखल कनक निरभान ।**
**द्वारी द्वारपालक रोलय पाइ लाग ।**
**कुण्डिनर द्विज हामु कह कृष्ण आग ।**
**कृष्णत हामार थिक गोप्य प्रयोजन ।**
**राम राम बोलहु हरि से सर्वजन ।।**

सूत्रधार रुक्म की उसी राजधानी को द्वारिका नगरी में परिवर्तित कर देता है । सामाजिक को अपने काव्य-चातुर्य से यह प्रतीत करा देता है कि द्वारिका नगरी उनके सामने विद्यमान है । द्वारपाल और कृष्ण वहीं उपस्थित हो जाते हैं । द्वारपाल द्वारा सूचना पाकर कृष्ण कुण्डन ब्राह्मण का पाद-प्रक्षालन करते हैं और उससे कुशल समाचार पूछते हैं—

**कुशलस्तव विप्रेन्द्र किमर्थमिह चागतः**
**पवित्री कृत्य चास्माकं त्वत्पाद रजसागृहम् ।।**

इस प्रकार दोनों का वार्तालाप राजा भीष्मक की नगरी वाले दृश्य में ही चलता रहता है । नाट्यकार का कौशल है कि रुक्मिणी के पत्र को कृष्ण स्वतः नहीं पढ़ते वे ब्राह्मण वेदनिधि से पढ़ाकर पत्र सुनते हैं । इस प्रकार सामाजिक को पत्र का रहस्य ज्ञात हो जाता है । कृष्ण

की दशा का वर्णन सूत्रधार अपने ही शब्दों में करता चलता है। यही नाट्यकार की पद्धति है कि वह सामाजिक पात्रों की मनोदशा से अवगत कराता चलता है। आज का नाट्यकार रंगमञ्च निर्देश को कोष्ठबद्ध करता है किन्तु शंकरदेव उसको सूत्रधार के मुख से सामाजिक को बताते चलते हैं।

श्रीकृष्ण ब्राह्मण को रथासीन करके स्वतः उस पर विराजमान होते हैं और रुक्मिणी के पास वायु-वेग से प्रस्थान करते हैं। रंगमञ्च से दोनों जब बहिर्गत होते हैं तो नाट्यकार पुनः रुक्मिणी को उसकी सखियों के साथ उपस्थित करता है। नाट्यकला की दृष्टि से यहाँ एक दोष परिलक्षित होता है। नाट्यकार ने रुक्मिणी का रंगमंच से निष्क्रमण कहीं नहीं बताया। आवश्यक पात्रों के आह्वान के ध्यान में सम्भवतः वह अनावश्यक पात्रों के निष्क्रमण की व्यवस्था विस्मृत कर देता है। यदि रुक्मिणी की विद्यमानता में रंगमंच पर कृष्ण और वेद-निधि में वार्तालाप होता है तो आगे की कथा निरर्थक हो जाती है। अतः रुक्मिणी का निष्क्रमण किसी न-किसी रूप में आवश्यक है। यदि रुक्मिणी का निष्क्रमण दिखाकर पुनः उसका प्रवेश कृष्ण-प्रस्थान के उपरान्त दिखाया गया होता तो रंगमंच-निर्देश की दृष्टि से यह नाटक इस त्रुटि से बच जाता।

पट-परिवर्तन के बिना ही दो राजधानियों का दृश्य शंकरदेव किस प्रकार प्रदर्शित करते रहे, यह एक समस्या है। शंकरदेव एक कुशल कलाकार थे। उनके शिष्य-वर्ग में कई चतुर चित्रकार भी थे। सम्भवतः पट-क्षेप के स्थान पर पृष्ठभूमि का पट-परिवर्तन होता रहा होगा। भीष्म की राजधानी और द्वारकापुरी के दो चित्रपटों द्वारा स्थान का बोध कराया गया होगा।

तीसरा दृश्य रणक्षेत्र का है। कृष्ण का प्रतिद्वन्द्वी शिशुपाल रुक्मिणी के अपहरण को लालायित था। उसकी आसुरी सेना ने रुक्मिणी को घेर लिया। रुक्मिणी का ज्येष्ठ भ्राता रुक्मक भी शिशुपाल का सहायक था। एक पक्ष में कृष्ण हैं और दूसरे में शिशुपाल और रुक्म। दोनों पक्ष के घोर युद्ध का वर्णन सूत्रधार इस प्रकार करता है :

**काटेल बाण कृष्णे शर मारि।**
**गरजे रुक्मी पुनु शर प्रहारि॥**

× × ×

**बहुतर बाणे ताहे हृदि भेदि।**
**हातक धनु पेलावल छेदि॥**
**हाते मुठि धरि रुक्मी कुमार।**
**कृष्णक हृदये कयल प्रहार।**
**ताहे प्रहारि हासि यदुनाथ।**
**धरल केश केशव वाम हात॥**

× × ×

**पाइ चोट वरि मूर्छित वीर।**
**कृष्ण धरल खारडा छेदिते शिर॥**

इस उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि दृश्य-परिवर्तन की अभावपूर्ति सूत्रधार के गीत से की

जाती थी। सूत्रधार नये दृश्य का विधान अपने नूतन गीतों के बल पर निर्मित करता। एक ही दृश्य में भीष्मक की राजधानी द्वारका, युद्ध-क्षेत्र, कृष्ण विवाह-मण्डप, आदि विविध दृश्यों का प्रदर्शन होता था।

इसी प्रकार 'रामविजय नाट' में रामजन्म, कौशिक यज्ञ-रक्षा, मारीच-सुबाहु वध, मिथिला में धनुष-यज्ञ, सीता-विवाह, राम का सीता सहित अयोध्या प्रत्यागमन, मार्ग में परशुराम-लक्ष्मण विवाद, अयोध्या में सीताराम का अभिनन्दन इतने दृश्यों को एकत्र एक दृश्य में प्रदर्शित किया गया है। इसे लोक-नाट्य-शैली के अतिरिक्त और क्या कहा जाय! यद्यपि शंकरदेव ने इन नाटकों के अभिनय के लिए नामघर (नाट्यशाला) की स्थापना की थी तथापि पट-परिवर्तन को अनावश्यक समझ कृष्ण और राम की अनेक लीलाओं को एक ही दृश्य में दिखाने का प्रयास किया यगा है। शंकरदेव जैसा धुरंधर विद्वान् संस्कृत की नाट्य शैली की सीमा का उल्लंघन करके जन-नाट्य-शैली को किसी-न-किसी कारणवश व्यवहार्य बना रहा था। वह कारण क्या रहा होगा? ऐसा प्रतीत होता है कि 'ओझपाली' नामक जनप्रिय नाट्य-शैली सशक्त बनाने के लिए उन्होंने संस्कृत की रूढ़ियों का परित्याग किया होगा। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि पुण्य-पर्वों पर विशाल जनसमूह को एकत्रित देख उन्होंने नाट्य-गृहों के अतिरिक्त खुले विस्तृत मैदानों में अभिनय के लिए ये नाटक विरचित किए होंगे। इसी जन-नाट्य-शैली पर पट-परिवर्तन के बिना ही नाट्य-गृहों में इन नाटको का अभिनय विशेष अवसरों पर किया होगा।

उनके किसी भी नाटक में पट-परिवर्तन का विधान नहीं। एक घटना हो अथवा अनेक सबके लिए एक ही पद्धति है। पात्रों का प्रवेश और निष्क्रमण, नियमित रूप से दिखाया गया है। यद्यपि कहीं-कहीं भूल अवश्य हो गई है पर वह अपवाद ही है। केवल सूत्रधार स्वेच्छा से प्रवेश एवं निष्क्रमण के नियमों का उल्लंघन कर सकता है। उसके लिए कोई नियम नहीं है। वह जब जिसका जहाँ चाहे रंगमंच पर आह्वान कर सकता है।

*गद्य-प्रयोग—*

शंकरदेव के सभी नाटकों में गद्य का प्रयोग मिलता है। प्रारम्भिक नाटकों में गद्य का बाहुल्य है और गद्य का प्रयोग सूत्रधार ही कथा प्रसंगों को संयुक्त करने के उद्देश्य से करता चलता है। अन्य पात्र प्रायः कविता में कथोपकथन करते दिखाई पड़ते हैं। उनके सभी नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उन्होंने अपने अन्तिम नाटकों में कथोपकथन के लिए गद्य को प्रमुख स्थान दिया है। इनमें पद्य का प्रयोग केवल गीतों के रूप में यत्र-तत्र दिखाई पड़ता है। प्रमाण के लिए 'परिजात हरण' नाटक में सत्यभामा और श्रीकृष्ण का संवाद देखिए—

"*सत्यभामा*—हे स्वामी हामाक परिजात तरु तुहु दिते सत्य कय बोल।
*श्री कृष्ण*—हे प्रिये, पापी नरकासुर देवता सबक जिनिये सर्वस्व आनल।
आगु ताकेक मारि देवकार्य साध। पाछु पारिजात आनो।
*सत्यभामा*—आ स्वामी! उचित कहत। आगु देवकार्य साधि सेहि यात्रा ये पारिजात आनह। हामु तो हरि संगे चलबो।

*श्री कृष्ण*—हे प्रिये ! तुहु स्त्री जाति । युद्ध समये तोहारि उचित गमन नाहि ।

*सत्यभामा*—हे स्वामी ! हमार बहुत सतिनी । इवार पारिजात आनि कोन स्त्रीक देव, ताहे बुझाये नाहि । हामु कदाचितो तोहारि संग नाहि छोड़ब ।

*श्री कृष्ण*—हे प्रिये ! तोहु यदि हाभा के संग चलब तब सत्वरे साजह"

इस उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि गद्य का प्रयोग प्रायः कथा की गति को आगे बढ़ाने के उद्देश्य से किया जाता है । भावों और भावनाओं को जागृत करने के लिए गीतों का प्रयोग होता है, किन्तु घटनाओं और क्रिया-कलापों का ज्ञान गद्य द्वारा कराया जाता है । यद्यपि इस गद्य में वह तीव्रता एवं प्रवाह नहीं है जो उच्चकोटि के नाटकों में अपेक्षित है तथापि १५वीं शताब्दी के हिन्दी गद्य में विचार-प्रदर्शन की इतनी क्षमता थी यही क्या सन्तोष-प्रद नहीं है !

गद्य का अपेक्षाकृत निखरा हुआ रूप शंकरदेव के अन्तिम नाटक 'रामविजय' में दिखाई पड़ता है । इस नाटक में पद्य भाग की अपेक्षा गद्य भाग कहीं अधिक मात्रा में दिखाई पड़ता है । कहीं-कहीं तो सम्पूर्ण वार्तालाप गद्य के माध्यम से ही दिखाई पड़ता है । उदाहरण के लिए जनक और विश्वामित्र का वार्तालाप देखिए—

"*विश्वामित्र*—हे महाराज जनक, पुत्र पौत्र सहित तोहो चिरकाल सुखी होब ! तोहर सत्कारे परम सन्तोष भेलो ।

*सूत्र*—जनक राजा रामलक्ष्मण रूप निरखि परम आश्चर्य हुआ मुनिते पूछत ।

*जनक*—हे ऋषिराज, उहि बालक दुयो अद्भुत मूरति देखि परम आनन्द भेलो । काहेर कुमार; कि देव, किंवा मानुष, हामु बुझाये नाहि पारि उहि सुकुमार दुहोक देखि हृदय सन्तोष भेलो ।

*विश्वामित्र*— हे महाराजा, तोहारि परिचय नाहि । ये दशरथ राजा तोहार परम मित्र ताहेर कुमार यही हमार परमशिष्य । आरा सवर नाम रामलक्ष्मण तोहारि दुहिता सीतार स्वयंवर देखिते इहा आवल थिक इह जानि सत्वरे माज मिलाइ, महेशक धनु आनह !

*सूत्र*—जनक राजा महाहर्षे रामलक्ष्मणक आलिंगि बोलल ।

*जनक*—आः धन्य-धन्य दशरथ राजा । ऐचन परम सुकुमार कुमार जाहेर गृहे ताहेर भाग्यक महिमा कि कहब ।

*सूत्र*—ओहि बुलि राजा परम उत्सवे शंख शवदे सम्वाद नाद बहुत बजावल । मणिमंत्र मंत्रीक आदेश कयल ।

*जनक*—ऐये मणिनंत्र, ये नृपति सब बासा करि रहिछे ताहाक आनि सत्वरे समाज मिलाव ।

*सूत्र*—इति श्रुत्वा मणिमन्त्र निष्क्रान्तः ।

*सीता*—हा हा सखी, आहे कनकावती, कि निमित्ते सभात हरिष वाजन सुनिए; कौन राजा आवल सत्वरे, जान गिया ! हामाक वाम अंग फान्दे । कौन कुशल कहे इहा जानये नाहि ।"

इस उद्धरण से महर्षि और राजर्षि के वार्तालाप का आभास मिलता है । राजर्षि जनक

राम-लक्ष्मण के रूप पर मुग्ध होकर उनका गुण-गान करते हैं और महर्षि विश्वामित्र जनक की मैत्री का आभास देते हुए अपने शिष्यों के आगमन का प्रयोजन बताते हैं। राजर्षि जनक से धनुष-यज्ञ की तैयारी का संकेत करते हैं। इस वार्तालाप से घटना-क्रम आगे बढ़ता है। जनक और दशरथ की मैत्री का आभास मिलता है। विश्वामित्र के शिष्यों के आगमन का प्रयोजन प्रतीत होता है। यह वार्तालाप तत्कालीन नाटकीय शैली का अच्छा नमूना है। यह जन-भाषा शिष्ट जनों के योग्य और शील-सौजन्य की परिचायक है। जनभाषा में संस्कृत शब्दों का प्रयोग बड़ा ही हृदयग्राही बन गया है।

इसी प्रकार 'पत्नि प्रसाद नाटक' में कृष्ण और गोप-वृन्द का वार्तालाप कथा की गति को आगे बढ़ाने वाला और उनके सहज स्वभाव को प्रकट करने वाला प्रतीक होता है।

"*बालकसब*—हे राम, हे कृष्ण, तुहु हमार परम जीवन, आजु परभाते भतेजन कय नाहि। हामि दधि अन्न संगे नाहि आनल। ज्ञुधाये परम पीड़ित हुयाच्छि। इहा जानि ज्ञुधानिवारण उपाह चिन्तह।

*श्री कृष्ण*—( बालक सबक बचन सुनिये श्री कृष्ण विहसि बोले ) हे सखि सब, आः भाल कहल, हामु ये बोलो ता शुनह। ओहि आश्रमक मध्ये विप्र सब स्वर्ग-कामे यज्ञ करते छे। वेदत शास्त्रत पारंगत परम सम्पन्न। तारा सबक आगे ददार हामार नाम धरिये अन्न प्रार्थना कय गिया।

*बालकसब*—हे गुरुसब, तोरा सब परम पण्डित यज्ञदान व्रते परम निर्मल हुया थिक। ओहि अशोक मूले गोपगण सहिते रामकृष्ण परम ज्ञुरधातुर हुया अन्न पार्थि पठावाल; जबे श्रद्धा आछय अन्न व्यञ्जन प्रचुर देवह। अन्न दाने येन पुराय आपुने जानह, अज्ञानक सिखावह। तोरा सब आगे हामु कि कहब?

*चण्डभारती*—आहे गोबाल सब, हाम वेदत शास्त्रत परम पारंगत यज्ञ व्रत दाने परम पवित्र, हामो सब भूदेवता, हामक सर्व लोके पूजय। नन्द सुत कृष्ण हामुक आगे कौन हय।

*बालकसब*—(कृष्ण से) हे कृष्ण, तोहाक कदर्थना कयल।"

इस गद्य-भाग से चण्ड भारती का चरित्र, कृष्ण का महत्त्व, गोपालों की सहज प्रवृत्ति और कृष्ण में उनकी श्रद्धा का परिचय मिलता है। इस प्रकार शंकरदेव ने जिस गद्य का प्रयोग किया है उसमें चरित्र-चित्रण, कथा-विस्तार आदि की ज्ञमता पाई जाती है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि उस काल के जनसामान्य की भाषा कितनी मधुर एवं भावपूर्ण थी। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म मनोभावों को प्रकट करने की ज्ञमता इस भाषा में विद्यमान थी। 'रामायण' एवं 'श्री मद्भागवत' की कथाओं को पद्य-गद्य के माध्यम से अभिनेय बनाकर नाटकों द्वारा आपद्काल में जनसामान्य की रुचि का परिमार्जन करना समाज-कल्याण की दृष्टि से कितने महत्त्व की बात थी। इन्हीं नाटकों ने हमारी सांस्कृतिक चेतना का उन्नयन किया।

*ाषा*

शंकरदेव की भाषा १२वीं शताब्दी में प्राप्त बनारस के आस-पास की भाषा से बहुत कुछ साम्य रखती है। अभी शोध द्वारा १२वीं शताब्दी की बोल-चाल की भाषा का परिचय ाप्त हुआ है। उस भाषा में भोजपुरी एवं मैथिली का पुट पाया जाता है। आज भी नारस जिले के पूर्वी भाग की भाषा प्रायः वही है जो शंकरदेव के नाटकों के गद्य भाग में ाई जाती है। इस विषय में विस्तारपूर्वक विचार पृथक् लेख में किया जायगा।

*उपसंहार*

शंकर देव के नाटकों की अपनी एक स्वतन्त्र सत्ता है, वे संस्कृत, प्राकृत या अन्य केसी नाट्य-परम्परा का अनुसरण नहीं करते। उनमें अंक एवं दृश्य-विभाजन का नितान्त प्रभाव है। अधिकतर पात्र नाटक के उपोद्घात से लेकर परिसमाप्ति तक निरन्तर कार्य-यापार में रत-परिलक्षित होते हैं। यहाँ, पृष्ठभूमि के रूप में किसी साज-सज्जा का विधान हीं होता, समय और दूरी की सूचना गान एवं नृत्य के माध्यम से दे दी जाती है। प्रारम्भिक ान के अनन्तर शीघ्र ही रंगमंच पर सूत्रधार का प्रवेश होता है, वह नाटक की घोषणा करता है और आद्योपान्त समस्त प्रदर्शन का संचालन नृत्य, गीत और व्याख्यात्मक समीक्षा द्वारा करता है। नाटक जन-बोली में रचे गए हैं, इस जन-बोली में ब्रज से आसाम तक की चलित जनभाषा का समावेश पाया जाता है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें लचीलापन, वन्यात्मक माधुर्य, अपभ्रंश की ओजस्विता आदि गुण स्वाभाविक रीति से पाए जाते हैं और इन सबके सामूहिक परिणामस्वरूप प्रगीत और पद्यात्मक नाटक का आभास मिलता है। नाटक में गद्यात्मक संवाद भी मुहावरों की भाषा में होता है, सूत्रधार का विवरण भी इसी प्रकार की भाषा में मिलता है, कभी-कभी गीत की भाषा का भी प्रयोग गद्य में होता है। बीच-बीच में संस्कृत के श्लोकों का समावेश रहता है। यदा-कदा करुणोत्पादक कथानक के साथ असमिया छन्द 'पयारस' का भी योग मिलता है। नाटकों में हमें जनभाषा का आदि रूप प्राप्त होता है, किन्तु न तो यह पद्यात्मक माधुर्य समन्वित नितान्त गद्य ही होता है और न ही यह परिमार्जित गद्य ही होता है। नाटक का प्रारम्भ संस्कृत में नान्दी से होता है तथा प्रारम्भ में ही नाटक के पात्रों और विषय की सूचना दे दी जाती है। प्रारम्भ में ही नाटक के नायक की स्तुति की जाती है। सूत्रधार और उसके संगी का वार्तालाप भी अत्यन्त संक्षिप्त होता है। यह वार्तालाप संस्कृत के आमुख अथवा प्रस्तावना का अनुसरण करता है। प्रवेश-गीत के साथ नायक का प्रवेश होता है। नायिका तथा अन्य पात्र भी समुचित नृत्य-मुद्रा में प्रवेश करते हैं।

*भरत वाक्य*

नाटक की परिसमाप्ति मंगलगीत अथवा मुक्ति-मंगल भटिमा (नायक की स्तुति) के साथ होती है। उस मंगल-गीत अथवा भटिमा में सामाजिक के प्रति शुभकामना प्रकट की जाती है। केवल 'पत्नीप्रसाद नाटक' ऐसा है जिसमें भरत वाक्य नहीं मिलता। ऐसा अनुमान केया जाता है कि यह नाटक शंकरदेव की प्रथम नाट्य-कृति थी। इसके उपरान्त उन्होंने

भरतवाक्य की योजना आवश्यक समझी और अपने सभी शेष नाटकों में मंगल-गीत के द्वारा सामाजिक की कल्याण-भावना प्रकट की।

*अभिनय*

सम्भवतः शंकरदेव के नाटकों के अभिनय पुण्यपर्व के अवसर पर देवालय एवं नाम-घरों में होते रहे होंगे। जन नाट्य-शैली में विरचित होने के कारण ये नाटक खुले मैदानों में वैष्णव भक्तों के द्वारा अभिनीत होते रहे होंगे। किन्तु इस सम्बन्ध में कोई विशेष प्रमाण नहीं मिलता। केवल एक प्रमाण ऐसा मिलता है कि उनके शिष्य माधवदेव की माता के श्राद्ध के अवसर पर 'पत्नीप्रसाद' नाटक सर्व प्रथम अभिनीत हुआ था।

*संगीत*

शंकर देव दार्शनिक, नाट्यकार के अतिरिक्त संगीत-शास्त्र के ज्ञाता भी थे। उनके वरगीत शास्त्रीय संगीत से परिपूर्ण हैं। उनके गीत के दो विभाग हैं—ध्रुव और पद। ध्रुव को उत्तर भारत के स्थायी अथवा अस्थायी और दक्षिण भारत के पल्लवी के समकक्ष माना जा सकता है और पद भाग में कतिपय छन्द पाए जाते हैं और अन्तिम चरण में शंकरदेव का नाम पाया जाता है। प्रत्येक गीत के साथ राग का नाम मिलता है। रागों में अहिर, आसा-वरी, भूपाली, धनश्री, गौरी, कल्याणी, केदारा, मौरधनश्री, नाटमल्लाद, श्री, सुहाइ, तुड़, वसन्त, और वसन्त अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

शंकरदेव की यह बड़ी विशेषता है कि उन्होंने संस्कृत के साथ जनभाषा, संगीत-मय पदों के साथ परिमार्जित गद्य, शास्त्रीय नाट्य विधान के साथ लोक नाट्य शैली, विद्व-न्मण्डली के साथ अशिक्षित जनसमुदाय का भी सदा ध्यान रखा। दोनों पद्धतियों के सामंजस्य से उन्होंने नाट्य-साहित्य का एक नया रूप निर्मित किया।

शंकरदेव के उपरान्त महाराज जसवन्तसिंह ने 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक में गद्य का प्रयोग किया। इस प्रकार सत्रहवीं शताब्दी के गद्य का रूप देखा जा सकता है। अभी तक विद्वानों की धारणा थी कि सर्व प्रथम महाराज जसवन्तसिंह ने ही नाटकों में गद्य को स्थान दिया किन्तु शंकरदेव का समय इससे दो शताब्दी पूर्व माना जाता है। अतः जब तक शंकर-देव से पूर्व गद्य प्रवेश का प्रमाण नहीं मिल जाता तब तक इसी महात्मा को प्रथम गद्य-प्रयोग कर्ता मानना होगा।

जसवन्तसिंह के गद्य का एक नमूना दिया जा रहा है ताकि दोनों का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सके।

तब पुरुष हर्ष धाय बोल्यो कहा मैं (हौं) ही ईश्वर हौं। उपनिषद् बोल्यो हाँ यों ही है। और सुनौ ईश्वर तो तैं न्यारौं नाहीं। मैं (हौं) अज्ञान करि कैं मारे भए है। तब पुरुष विवेक यों कह्यो। अहो देवी उपनिषद् नैं जुअर्थ कर्यौ सो मैं नीकैं नाहीं समझ्यौ क्योंकि हौं प्रतिबिम्ब सूँ न्यारो हौं। जनम मृत धरमी हौं ताको देवी उपनिषद् कहत है। सत्यचिदानन्द स्वरूप है।

(क्रमशः)

[हस्तलिखित प्रति से उद्धृत]

# मूल्यांकन

*डॉक्टर भोलानाथ तिवारी*

## हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास

: १ :

कुछ वर्ष पूर्व श्री शमशेर सिंह नरूला ने इसी विषय पर अंग्रेज़ी में एक पुस्तक प्रकाशित की थी।[1] प्रस्तुत पुस्तक उसी का हिन्दी-रूप है, यद्यपि लेखक ने उस अंग्रेज़ी पुस्तक का कोई उल्लेख न करते हुए इसे एक नई कृति के रूप में ही हिन्दी-संसार के समक्ष रखा है।

पुस्तक कुल बारह अध्यायों में विभक्त है। ये अध्याय विषय-प्रवेश, भारत का भाषा-सम्बन्धी प्राग् इतिहास, संस्कृत भाषा का उद्गम और उसकी प्रकृति, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं की सामाजिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, हिन्दी के आदि काल से पहले की भौतिक और आध्यात्मिक स्थिति, हिन्दी के आदि-काल की कृत्रिम भाषाएँ, हिन्दी के मध्य-काल की प्रादेशिक भाषाएँ, आधुनिक हिन्दी और उर्दू का उद्भव और विकास, हिन्दी और कुछ विदेशी भाषाएँ—समता और भिन्नता, प्रादेशिक भाषाएँ और हिन्दी, हिन्दी का भविष्य और भारत के लिए एक राष्ट्र-भाषा की समस्या तथा लिपि का प्रश्न हैं।

पुस्तक में लेखक का अपना मौलिक दृष्टिकोण क्या है, इसके लिए प्राक्कथन से निम्नांकित अंश उद्धृत किया जा सकता है—

**"भाषा-विज्ञान के सर्वमान्य सिद्धान्तों के प्रकाश में यह पुस्तक उत्तरी भारत की जनता द्वारा वास्तव में बोली जाने वाली भाषाओं और प्राचीन काल से उसके द्वारा सर्जित आध्यात्मिक और सांस्कृतिक सम्पत्ति के अन्वेषण द्वारा आधुनिक हिन्दी के उद्गम और विकास का अध्ययन करती है। भाषा-शास्त्र के नियमों का अनुसरण करते हुए इसमें भारतीय भाषाविदों के इस मत का खण्डन किया गया है कि हिन्दी और उत्तरी भारत की अन्य आधुनिक भाषाएँ बृहत्तर भाषाओं के विपाटन द्वारा अस्तित्व में आईं और यह धारणा प्रस्तुत की गई है कि यहाँ भी और देशों की भाँति, आधुनिक भाषाएँ छोटी-छोटी बोलियों और उप-भाषाओं के विलय से उद्भूत हुईं।....इस तरह यह धारणा भी प्रकाश में आती है कि संस्कृत**

---

१. **पुस्तक का नाम सम्भवतः** A Scientific History of Hindi Language **था।**

**और प्राकृत भाषाएं आम बोल-चाल की नहीं थीं और न वे उत्तरकालीन बोल-चाल की भाषाओं को ही जन्म दे सकती थीं।"**

दो बातें विचारणीय हैं।

लेखक भारतीय भाषाविदों के इस मत का खण्डन करता है कि उत्तरी भारत की आधुनिक आर्य-भाषाएँ बृहत्तर भाषाओं के विपाटन द्वारा अस्तित्व में आईं। उसका कहना है कि बोलियों के विलय से ये उद्भूत हैं। यथार्थता यह है कि एक बड़े क्षेत्र में किसी भाषा या बोली के परिनिष्ठित रूप में प्रयुक्त होने के लिए उसे इन दोनों ही अवस्थाओं से गुज़रना पड़ता है। उत्तरी भारत को ही लें। आर्य यहाँ बाहर से आए। यह तो एक मान्य सिद्धान्त है कि जितने आर्य भारत में आए उनकी भाषा में व्याकरणिक एकरूपता नहीं थी। पर इसके साथ ही यह भी मानना अन्यथा न होगा कि आज उत्तरी भारत ( तथा पाकिस्तान ) में कश्मीरी (?), सिन्धी, पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी, पश्चिमी हिन्दी, पहाड़ी, पूर्वी हिन्दी, बिहारी, उड़िया, बंगाली तथा आसामी के क्षेत्र में जो सैकड़ों बोलियों तथा हज़ारों उपबोलियों एवं स्थानीय रूप-रूपान्तरों के रूप में भाषा की विभिन्नता वर्तमान है वह बाहर से आने वाले आर्यों के साथ नहीं आई थी, अपितु यहीं विकसित हुई। एक भाषा-भाषी जब एक विस्तृत भूमि-खण्ड में बस जाते हैं और भौगोलिक या अन्य कारणों से जब उनका आपस में मिलना-जुलना प्रायः सम्भव नहीं होता तो उनमें इस प्रकार के अन्तरों का विकास स्वभावतः हो जाता है। भारतीय भाषाविदों ने जब बृहत्तर भाषाओं के विपाटन द्वारा आधुनिक भाषाओं के अस्तित्व में आने का उल्लेख किया है तो उनका आशय यही है। दूसरे शब्दों में बाहर से आने वाले आर्यों में बोली के तेरह रूप नहीं वर्तमान थे, जो आधुनिक तेरह आर्य-भाषाओं के रूप में आज प्राप्त हैं। इससे स्पष्ट है कि दो या अधिक रूपों में विपाटित होकर बृहत्तर भाषा या भाषाएँ इतने अधिक स्वतन्त्र रूपों में विकसित हो सकी हैं। यदि लेखक सचमुच ही इस मत का खण्डन करता है जैसा कि उसने लिखा है ( प्राक्कथन पृ० १) तो उसे न केवल यह सिद्ध करना पड़ेगा कि बाहर से आने वाले आर्यों में तेरह बोलियाँ या उपभाषाएँ थीं बल्कि आधुनिक सैकड़ों उपबोलियों के पूर्व अस्तित्व के सम्बन्ध में भी उसे प्रमाण देने होंगे। पर, यह निश्चय ही असम्भव है। यही नहीं, भाषा-शास्त्र के मान्य-सिद्धान्तों के आधार पर बृहत्तर भाषा के विपाटन द्वारा बोलियों का अस्तित्व में आना और फिर उनका समुन्नत होकर भाषा-रूप में विकसित होना किसी भी रूप में खण्डित नहीं किया जा सकता।

पर इसके साथ ही वह दूसरा भी पक्ष है, जिसे लेखक ने स्थापित करना चाहा है। जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, यह दूसरी सीढ़ी है। अर्थात् प्रथम मत, जिसका लेखक ने तथाकथित खण्डन किया तथा दूसरा मत जिसे उसने स्थापित किया है दोनों ही सत्य हैं। बिना इस दूसरी सीढ़ी के कोई भाषा या बोली एक बड़े क्षेत्र में अपनाई जा सकती, पर दूसरी ओर बिना पहली सीढ़ी के दूसरी का अस्तित्व ही असम्भव है। यदि विपाटन द्वारा एकाधिक बोलियों या उपभाषाओं का जन्म न होगा तो किनके विलय के आधार पर बड़े क्षेत्र की भाषा खड़ी होगी। इस प्रकार और बातें छोड़कर यदि लेखक की बात ही ठीक मान ली जाय तो उसके द्वारा किया गया खण्डन ही उसकी स्थापना को निराधार सिद्ध कर देता

है। यहाँ यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि लेखक ने जिस बात पर बल दिया है, उसकी ओर भारतीय भाषाविदों का ध्यान प्रायः नहीं गया था। ऐसी स्थिति में उसने दूसरी सीढ़ी का जो स्पष्टीकरण किया है वह महत्त्वपूर्ण है। यथार्थतः लेखक ने जिस बात का खण्डन किया है, उसे ( लेखक को ) अपने सिद्धान्त के पूरक रूप में स्वीकार करना चाहिए था।

दूसरी विचारणीय बात है लेखक का संस्कृत और प्राकृत को आम बोल-चाल की भाषा न मानना तथा उनसे आधुनिक भारतीय भाषाओं को उद्भूत न स्वीकार करना। संसार की सभी भाषाओं का साहित्यिक और बोल-चाल का रूप अलग-अलग होता है। आज की खड़ी बोली को ही लें। उसका साहित्य में प्रयुक्त रूप न केवल शब्द-समूह की दृष्टि से अपितु व्याकरणिक रूपों की दृष्टि से भी खड़ी बोली या भैरवी से पूर्णरूपेण साम्य नहीं रखता, पर साथ ही उसके अधिकांश रूप उस क्षेत्र की बोली के हैं। आज से हज़ार वर्ष बाद यदि कोई कहे कि खड़ी बोली बोल-चाल की भाषा नहीं थी, तो हम उसे केवल इतने अंश में ठीक मान सकते हैं कि खड़ी बोली का जो रूप साहित्य में उपलब्ध रूप है वह बोल-चाल का नहीं था। इसी प्रकार संस्कृत और प्राकृत का जो साहित्य में उपलब्ध रूप है उसे ठेठ बोल-चाल का नहीं माना जा सकता और इसे कोई भाषा-विज्ञान-वेत्ता मानता भी नहीं। पर साथ ही यह भी सत्य है कि संस्कृत या प्राकृत आकाश से नहीं उतरी थीं, अपितु अपने जन्म-काल के समय की प्रयुक्त भाषाओं पर आधारित थीं। अतएव अपने उस रूप में ( जिनके अवशेष हम तक नहीं आ सके हैं ) संस्कृत और प्राकृत ( चाहे किसी भी नाम से ) बोल-चाल की भाषा थीं। यह बात दूसरी है कि उपलब्ध संस्कृत-प्राकृत में और उनमें बहुत अन्तर था। वही अन्तर, जो दिल्ली के एक लब्धप्रतिष्ठ लेखक की रचना में तथा दिल्ली के समीप के किसी अपढ़ ग्रामीण द्वारा व्यवहृत बोली में आज मिल सकता है।

संस्कृत और प्राकृत से आधुनिक आर्य-भाषाओं को उद्भूत न मानने का प्रश्न भी इसी से सम्बद्ध है। आधुनिक भारतीय भाषाएँ संस्कृत और प्राकृत के साहित्यिक रूप से उद्भूत नहीं हैं—इस रूप में किसी भाषा का उद्भूत होना सामान्यतः सम्भव होता भी नहीं—पर, उस काल की जन-भाषाओं ( जिन्हें हम उसी रूप में संस्कृत और प्राकृत कह सकते हैं जिस रूप में आज की साहित्यिक खड़ी बोली को भी खड़ी बोली कहते हैं और खड़ी बोली क्षेत्र की ग्रामीण बोली को भी ) से उनका विकास अवश्य हुआ है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। वास्तव में प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक ने यहाँ जिस मत को 'काटने का प्रयास किया है उसे उस रूप में आधुनिक भाषा-शास्त्री मानते ही नहीं और जिस रूप में मानते हैं वह अभी तक के ज्ञान के आधार पर अकाट्य ही कहा जा सकता है।

लेखक द्वारा किये गए इस प्रकार के खण्डनों को छोड़कर यदि उसके मूल दृष्टिकोण को देखा जाय जिसमें उसने जनवादी दृष्टि से आधुनिक भाषाओं के वैज्ञानिक इतिहास के अध्ययन के लिए एक दृष्टि देने का प्रयास किया है तो इस पुस्तक का निश्चय ही अपना महत्त्व है और इस दृष्टि से आधुनिक भारतीय भाषाओं के विषय में ऐतिहासिक अध्ययन पर पुनर्विचार आवश्यक है।

पुस्तक में दी गई कुछ अन्य बातों पर भी अत्यन्त संक्षेप में विचार किया जा सकता है।

पहले अध्याय का पहला वाक्य है :

**'ब्रिटिश-शासन से हमें विरासत में एक धारणा यह भी मिली है कि उत्तरी भारत के समस्त जन-समुदाय की एक ही बोल-चाल की भाषा है।'** ( पृ० १ )

लेखक ने किस प्रमाण के आधार पर यह कहा है, स्पष्ट नहीं है। उत्तरी भारत के समस्त जन-समुदाय की बोल-चाल की भाषा यथार्थतः एक तो शायद कभी भी नहीं थी, और न किसी ने इस प्रकार के मत को प्रश्रय ही दिया है।

लेखक लिखता है, **'इसे प्रतिवेशी क्षेत्रों की पड़ी बोली के विपरीत खड़ी बोली कहा जाता है।'** ( पृ० ११ )

खड़ी बोली नाम की समस्या विवादास्पद है। उपर्युक्त वाक्य में लेखक यदि अपना मत दे रहा है तो उसे अपने तर्क भी दे देने चाहिए थे, और यदि वह किसी को उद्धृत कर रहा है तो उसे इसका संकेत कर देना चाहिए था।[1] यों हिन्दी के विद्वानों में अधिक प्रचलित मत दो हैं—खड़ी बोली का अर्थ खरी, प्रकृत या शुद्ध बोली[2] है, तथा ब्रजभाषा के रूपों (को, मेरो, तुम्हारो, देखूँगो, गयो) की तुलना में खड़ी बोली के रूपों के खड़े (का, मेरा, तुम्हारा, देखूँगा, गया) होने के कारण यह नाम [3] पड़ा है।

लेखक एक स्थान पर (पृ०७७) लिखता है —

**'इस काव्य को डिंगल कहा गया, जिसका अर्थ है निम्न कोटि का या विरूप पद्य'''।**

खड़ी बोली की भाँति ही लेखक ने यहाँ भी न तो इस मत के लिए कोई कारण दिया है और न यही संकेत किया है कि किस विशेष लेखक के आधार पर वह यह कह रहा है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है आज से प्रायः ४३ वर्ष पूर्व डॉ० एल० जी० तेस्सितोरी ने इससे मिलता-जुलता मत व्यक्त किया था।[4] अब तक इस के सम्बन्ध में कोई सुनिश्चित मत तो सामने नहीं आ सका है, पर राज-दरबारों में साहित्य-सृजन के लिए बहु-प्रयुक्त इस 'डिंगल' का अर्थ 'निम्नकोटि का या विरूप-पद्य' मानने के पक्ष में विद्वान् नहीं दिखाई देते।[5] लेखक को या तो इसका अर्थ देना ही नहीं चाहिए था, या यदि देना ही था तो कारण भी अपेक्षित थे।

लेखक (पृ०८१) लिखता है—

**'प्रसंगवश कबीर ने अपनी भाषा को पूरबी कहा है।'** लेखक का संकेत सम्भवतः कबीर के 'बीजक' में प्राप्त उस साखी की ओर है जिसकी प्रथम पंक्ति है—

---

१. डॉ० चटर्जी का मत यही है, यद्यपि बिना कोई कारण दिए उन्होंने इसे स्वीकार किया है। 'भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी', दिल्ली, १९५५ ई०, पृ०१६५।

२. 'उर्दू का रहस्य', चन्द्रबली पाण्डेय, काशी, १९९७ वि०, पृ० ७१।
'हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास', डॉ० उदयनारायण तिवारी, प्रयाग, २०१२ वि०, पृ० २०५।

३. 'हिन्दी-भाषा का इतिहास', डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, इलाहाबाद, १९४९, पृ० ६३-४।

४. 'जर्नल ऑव एशियाटिक सोसायटी अव्व् बंगाल', भाग १०, अंक १०, पृ० ३७६।

५. 'वीर काव्य', डॉ० उदयनारायण तिवारी, प्रयाग, २००५ वि०, पृ० ५४-५।
'डिंगल में वीर रस', मोतीलाल मेनारिया, प्रयाग, २००८ वि०, पृ० २-८।

**बोली हमारी पूरब की, हमें लखै नहिं कोय।**

कबीर का यहाँ 'पूरब' शब्द से वह आशय नहीं है जो लेखक समझता है। इस सम्बन्ध में कबीर-साहित्य के मर्मज्ञों के कुछ ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं।[1]

लेखक लिपियों पर विचार करते हुए लिखता है।

**'बौद्धों के 'ललित विस्तर' में ६४ लिपियों का उल्लेख है, जो महात्मा बुद्ध को सिखाई गई थीं और इनमें देवनागरी या उससे पहले की ब्राह्मी लिपि का उल्लेख नहीं है।'** (पृ० १६७)

कहना यह है कि देवनगरी लिपि का उल्लेख तो उसमें हो भी कैसे सकता है, जब ८वीं सदी के लगभग कुटिल लिपि से इसका विकास हुआ। पर जहाँ तक ब्रह्मी का सम्बन्ध है, 'ललित विस्तर' में उल्लेख होने की तो बात ही क्या, उसके १० वें अध्याय में दी गई ६४ लिपियों में इसको (ब्राह्मी को) प्रथम और इस प्रकार सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है।[2]

इस प्रकार की कुछ अन्य खटकने वाली बातें भी हैं पर सभी को लेकर विचार करना यहाँ सम्भव नहीं है।

पुस्तक में सन्दर्भ-रूप में उद्धृत पुस्तकों के सम्बन्ध में भी कुछ कहना चाहता हूँ। पुस्तक के अन्त में 'हिन्दुस्तान टाइम्स' की सम्मति में इसके कॉपिअसली डाकुमैंटेड (Copiously Documented) होने की प्रशंसा की गई है। बात ठीक भी हो सकती है, पर आज के वैज्ञानिक युग में पाद-टिप्पणी में उद्धृत ग्रन्थ शोभा नहीं आवश्यकता माने जाते हैं, और उस आवश्यकता की पूर्ति केवल ग्रन्थ के नाम दे देने से नहीं होती। इस प्रकार के शोधपूर्ण ग्रन्थों में ग्रन्थ-नाम, लेखक-नाम, प्रकाशन-स्थान, संस्करण या प्रकाशन-काल तथा सम्बद्ध पृष्ठों का उल्लेख भी अत्यावश्यक है। बिना इनके किये किसी ५०० पृष्ठ के ग्रन्थ का नाम लेकर यह कह देना कि अमुक मत अमुक पुस्तक में है, कोई मूल्य नहीं रखता। प्रस्तुत में पादटिप्पणी में उद्धृत सभी पुस्तकों में यह कमी खटती है। इसी प्रकार की दूसरी कमी ऐसे स्थानों पर खटकती है जहाँ विद्वानों के केवल नाम दे दिए गए, यह नहीं दिया गया है कि उनके तत्सम्बन्धित विचार उनके किस ग्रन्थ में हैं।

पुस्तकों, स्थानों तथा व्यक्तियों के नामों की अशुद्धियाँ भी कहीं-कहीं खटकती हैं। जैसे तगारे या टगारे (Tagare) हर जगह टेगोर हो गए हैं।

कहीं-कहीं वाक्य, गठन तथा शब्द-प्रयोग की दृष्टि से ठीक नहीं हैं। दो उदाहरण लिये जा सकते हैं—

१. दाँते ने लेटिन और ग्रीक भाषाओं को व्याकरण नाम से पुकारा है। और संस्कृत भाषा का वर्णन भी इसी नाम से भले ही किया जा सकता है। (पृ० २९)

२. यह कार्य चरकों द्वारा सम्पादन हुआ हो सकता है। (पृ० ३४)

पुस्तक के अंत में तीन पृष्ठों की अनुक्रमणिका है। अनुक्रमणिका में शब्द अक्षर-क्रम से रखे जाते हैं। इस दृष्टि से इन तीन पृष्ठों में ही १० से ऊपर गलतियाँ हैं।

पुस्तक की रूपरेखा तथा उसके नाम के सम्बन्ध में भी कुछ बातें कही जा सकती हैं।

---

१. **'कबीर साहित्य की परख', परशुराम चतुर्वेदी, प्रयाग, २०११ वि०, पृ० २०९-१०।**
**'कबीर साहित्य का अध्ययन', पुरुषोत्तम श्रीवास्तव, बनारस, २००८ वि० पृ० ९४-७।**

२. **'प्राचीन भारतीय लिपिमाला', गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, अजमेर, १९७१ वि० पृ० १७**

'हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास'—जैसा कि पुस्तक का नाम है—में 'आधुनिक हिन्दी और उर्दू का उद्भव और विकास' तथा 'प्रादेशिक भाषाएँ और हिन्दी' इन दो अध्यायों के बीच में 'हिन्दी और कुछ विदेशी भाषाएँ—समता और भिन्नता' शीर्षक अध्याय का क्षेपक कुछ जँचता नहीं। इसे यदि रखना ही था तो परिशिष्ट कदाचित् अधिक उपयुक्त स्थान होता।

पुस्तक का नाम है 'हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास', पर यथार्थतः इस में इन का पूरा इतिहास न होकर इतिहास के लिए दृष्टिकोण-मात्र है। लेखक के एक वाक्य—**'हिन्दी के इस ऐतिहासिक अध्ययन का मुख्य उद्देश्य किसी निर्णीत विचार-प्रणाली या किसी स्थिर मत को प्रस्तुत करना न होकर इस विषय में वैज्ञानिक पर्यालोचन को बढ़ावा देना है, तथा भारतीय भाषाओं के उद्गम और विकास के लिए एक नवीन पद्धति की आवश्यकता पर ज़ोर देना है। (प्राक्कथन पृ० २)**—से भी यही ध्वनि निकलती है। ऐसी स्थिति में पुस्तक का नाम पुस्तक में दी गई सामग्री के उपयुक्त नहीं कहा जा सकता।

अन्त में, यह कहना अनुचित न होगा कि इन छोटी-मोटी कमियों, अशुद्धियों एवं अव्यवस्थाओं के बावजूद भी पुस्तक पठनीय और संग्रहणीय है।[१]

●

*श्री धनञ्जय वर्मा*

## 'पथ के साथी' और 'क्षणदा'

महादेवी वर्मा का जो गद्य-साहित्य उनके काव्य-ग्रन्थों की भूमिका के रूप में प्रकाश में आया है, वह स्वयं इतना परिष्कृत एवं उदात्त नहीं है जितना उनका काव्य। सम्भवतः इसका कारण यह हो कि वहाँ अपना स्पष्टीकरण ही प्रधान है, स्वतन्त्र विवेचन या अभिव्यक्ति नहीं। 'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाएँ' 'शृंखला की कड़ियाँ' के बाद 'पथ के साथी' और 'क्षणदा' उनके सद्यः प्रकाशित गद्य-लेखन-संग्रह हैं जिनमें एक रेखाचित्रों के रूप में संस्मरण है, दूसरा उनके निबन्ध।

'पथ के साथी' प्रमुख साहित्यकारों के संस्मरण हैं, उनके व्यक्तित्व को शब्दों में बाँधने का प्रयास है जिसमें महादेवी ने केवल बाह्य रूप-रेखा को महत्ता न देते हुए विशिष्ट भावनाओं एवं तद्गत मानसिक प्रतिक्रियाओं को भी साकार किया है। रूप-शैली की दृष्टि से इनका स्पष्ट विभाजन सम्भव है जैसे 'प्रणाम' में विश्व कवि रवीन्द्र के प्रति जो श्रद्धाञ्जलि है उसमें काव्यात्मकता का एक विलक्षण सम्मोहन है। रवीन्द्र के तीन परिवेशों का चित्र रहस्यमयी भाषा, कथात्मक प्रतीकों से इतना बोझिल हो गया है कि परिमार्जित गद्य का रूप

---

१. **'हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास', शमशेर सिंह नरूला, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९५७, पृ०१७०, मू० ४)।**

नहीं निखर सका। गुप्त जी के रेखा-चित्र में वह किंचित् अधिक निखरा है, लेकिन व्यक्तित्व को स्पष्ट करने वाली रेखाएँ स्वयं इतनी धूमिल हैं कि सम्पूर्ण चित्र उभर नहीं सका। ऐसा प्रतीत होता है कि महादेवी जी ने गुप्तजी से अधिक स्वयं को चित्र में उभारा है इसीलिए गुप्त-जी के व्यक्तित्व का, काव्य और स्वभाव की; रेखाएँ मोटी हैं। साहित्य आकलन में भी विवेचन या विश्लेषण के तत्त्व का सन्निवेश नहीं जो यहाँ अपेक्षित हुआ करता है :

**"गुप्त जी कवि भी हैं और भक्त भी, अतः निर्माण भी उनके स्वभाव में है और निर्मित के प्रति आत्मसमर्पण भी। साहित्य में उन्हें ऐसी ही कथाएँ चाहिएँ जो लोक-हृदय में प्रतिष्ठा पा चुकी हों, पर उस परिधि के भीतर हर चरित्र का कुछ नया निर्माण उनका अपना है।"**[1]

सन्तोष इतना ही है कि महादेवी जी के ऐसे आकलन कतिपय ही हैं और जो उनके रेखा-चित्रों में प्राधान्य भी प्राप्त नहीं करते।

'सुभद्रा' का रेखा-चित्र स्नेह और आत्मीयता से अधिक भीग गया है......पुनः वही दोष यहाँ भी आ गया है कि सुभद्रा जी तो माध्यम बन गई हैं महादेवी जी प्रधान। उनकी साहित्य-साधना के विचार विशुद्ध भावोच्छ्वास की श्रेणी में सर्वश्रेष्ठ हैं।

**"जीवन के प्रति ममता भरा विश्वास ही उनके काव्य का प्राण है।"**[2]

**"भाषा, भाव, छन्द की दृष्टि से नये, 'झाँसी की रानी'-जैसे वीर-गीत तथा सरल स्पष्टता में मधुर प्रगीत मुक्त यथार्थवादिनी मार्मिक कहानियाँ आदि उनकी मौलिक प्रतिभा के ही सृजन हैं।"**[3]

'निराला' जी का रेखा-चित्र अन्य चित्रों से अधिक स्पष्ट है; प्रभावोत्पादक भी। ऐसा नहीं कि चित्र यह भी पूर्ण है; लेकिन इसकी अपूर्णता ही इसका शृंगार हो गई है। महादेवी की आत्मीयता, स्नेह, संवेदन ने मिल-जुलकर निराला जी के जीवन की एक मार्मिक झाँकी प्रस्तुत की है। प्रतीक-व्यञ्जनाओं में बँधा 'निराला' का व्यक्तित्व चित्र में उभर आया है। एक निर्देश जो 'निराला' के प्रति आरोपित अस्पष्टता का निवारण करेगा महत्त्वपूर्ण है :

**"उन्हें समझने के लिए जिस मात्रा में बौद्धिकता चाहिए उसी मात्रा में हृदय की संवेदनाशीलता अपेक्षित रहती है। ऐसा सन्तुलन सुलभ न होने के कारण उन्हें पूर्णता में समझने वाले विरल मिलते हैं।"**[4]

'प्रसाद' जी के चित्र में भावुकता से अधिक विचार है, चित्रण से अधिक चिन्तन है। 'प्रसाद'-सदृश महान् व्यक्तित्व को रेखाओं में बाँधने के लिए दुर्भाग्यवश महादेवी जी के पास एक ही चित्र है, उसीकी आवृत्ति है और उसीका प्रभाव बार-बार झलक उठता है। स्पष्ट है, व्यक्तित्व को सम्पूर्णतः वे उभार नहीं सकीं। एक रेखा जो चित्र में सर्वाधिक उज्ज्वल है—उनके संघर्ष-रत जीवन की है, जिसे ही सम्भवतः महादेवी जी ने प्राधान्य प्रदान किया है।

---

१. पृ० २६।
२. पृ० ४३।
३. पृ० ४५।
४. पृ० ६२।

'पन्त' जी का रेखाचित्र अधिक व्यक्तिगत है। इसीलिए 'सुभद्रा' जी के चित्र से वह रूप-शैली की दृष्टि से साम्य रखता है। इन रेखाओं में महादेवी तटस्थ नहीं हैं। कदाचित् पन्त की कोमलता, संकोच अन्तर्मुखी वृत्तियों ने उन्हें ऐसा बनने ही न दिया। 'पन्त' के व्यक्तित्व को चित्रित करने में महादेवी की तूलिका की बारीकी अधिक सफल हुई है।

सियारामशरण जी का रेखा-चित्र परिचयात्मक अधिक है। व्यक्तिगत—आत्मीयता का अंश उतना नहीं जितना अन्य चित्रों में। संस्मरण की दृष्टि से यह अत्यन्त साधारण कोटि का रेखा-चित्र है।

'शृंखला की कड़ियाँ' में आक्रोश के साथ-साथ संवेदन भी था, जो 'अतीत के चल चित्र' में अधिक सजीव हुआ। 'पथ के साथी' में इस संवेदन में उनके चित्रण-प्रधान काव्य-गद्य को एक प्रभावाभिव्यञ्जकता प्रदान की है, किन्तु इस कोटि की रचनाओं में जिन तत्त्वों की आवश्यकता होती है उससे वे न्यून हैं। कहीं तो वे इतनी अधिक तटस्थ हो गई हैं कि सम्पूर्ण चित्र मात्र परिचय ही होकर रह गया है और कहीं इतनी अधिक व्यक्तिगत कि चित्र की अपेक्षा वे अधिक उभरी हैं। संस्मरण में स्वयं के व्यक्तित्व के रंग की अवमानना मैं नहीं करता परन्तु वह इतना प्रगाढ़ न हो कि चित्र में वही प्रधान हो जाय और साध्य को अपदस्थ कर दे। 'पथ के साथी' में ऐसे चित्रों की न्यूनता नहीं। पुनः उनकी प्रतीक-योजनाओं, रूपक-शैली ने शुद्ध गद्य की सीमा का अतिक्रमण किया है, काव्य से घुला-मिला इस गद्य का रूप है···बोझिल वह हो गया है।

काव्य-कृतियों की भूमिकाओं के गद्य में जहाँ स्वयं-प्रकटीकरण और विवेचन तथा विश्लेषण के अंकुर थे वहाँ 'क्षणदा' के निबन्धों में मौलिक चिन्तन और सामयिक समस्याओं पर स्वतन्त्र विचारों का प्रकाशन भी हुआ है। पर महादेवीजी के इन निबन्धों में भी वह विशुद्ध तार्किक प्रणाली और विषय का पूर्ण विवेचन नहीं हो पाया है जो इस प्रकार के निबन्धों में अपेक्षित है। "करुणा के सन्देशवाहक" में बुद्ध को "निष्फल स्वप्न-दर्शी" कहा गया है, जिसमें कठोर बुद्धिवाद और कोमल मानवीय तत्त्व का संयोग है। उनकी दूर-दर्शिता और संगठन-शक्ति पर विचार करने के उपरान्त उन्हें भारतीय विचार-परम्परा से साम्य रखने वाला, और 'निराश-दुःखवाद' के अनुचित आक्षेप का अपवारणकर्ता प्रमाणित करने की चेष्टा है, पर यह किसी पुष्ट तार्किक पृष्ठभूमि पर आधारित नहीं है, तर्क से अधिक उनका विश्वास मुखर है। सम्भवतः आक्रान्त तर्क विश्वास की आड़ लेता है।[१] निष्फल स्वप्नदर्शी भी बुद्ध किन अंशों में थे—स्पष्ट नहीं है।

'संस्कृति के प्रश्न' में कहने की मौलिकता अवश्य है पर कहा वही गया है जो कहा जा चुका है। स्वतन्त्र-चिन्तन की दृष्टि से यह निबन्ध निराशाजनक है। 'कसौटी पर' भारतीय चिन्तन-शैली और जीवन में व्यतिक्रम का उल्लेख है (किस अर्थ में यह स्पष्ट नहीं) और आधुनिक वैषम्य का विवेचन भी। उनके सुझाव भी मौलिक नहीं।

'स्वर्ग का कोना' कश्मीर-यात्रा का विवरण है। यहाँ प्रकृति के शब्द-चित्र हैं जिनमें

१. Reason assailed could find refuge in faith; Indian Philosophy : Dr. Radhakirshnan (Vol. II, P. 19.)

व्यक्तित्व के रंग उन्हीं अर्थों में प्रगाढ़ हैं कि उन दृश्यों के काव्यात्मक प्रभावों की कोमल सी अभिव्यक्ति है। निश्चय ही ऐसे निबन्धों का सन्निवेश यात्रा-साहित्य में नहीं हो सकता।

'कला और हमारा चित्रमय साहित्य' में एक मौलिक प्रश्न पर विचार-विमर्श है। 'कला कला के लिए है या जीवन के लिए' के चिर-परिचित और बहु-श्रुत प्रश्न पर चिन्तन में मौलिक उद्भावना के स्थान पर अभिव्यक्ति की मौलिकता अवश्य है। चित्र-कला का उनका दृष्टिकोण शुद्ध नैतिकता और उपयोगितावाद से प्रभावित है। इस प्रकाश में विवेचन और विभाजन सामान्य कोटि का है। आधुनिक चित्र-कला के चार विभाग उनके नीतिवादी दृष्टिकोण के ही प्रतिनिधि हैं और विषय-सापेक्ष भी। उनके विचार स्वस्थ कला और स्वस्थ चित्र-साहित्य की प्रेरणा अवश्य होते हैं। शैली की दृष्टि से विभाजन, विश्लेषण और विवेचनात्मक यह निबन्ध पूरे संग्रह में सर्वोत्तम है। प्रारम्भ में बन्धत्व है; मध्य में विश्लेषण है और अन्त एक विरलता से हुआ है।

'कुछ विचार' में मराठी और हिन्दी-साहित्य की तुलना है और समानता के प्रतिपादन की चेष्टा ही प्रमुख है। लेकिन गाथाओं, आख्यानों, जन-कथाओं, उपन्यास, नाटक ए ं रंगमंच तथा भाषा के उद्गम में ही कतिपय मोटी समानताएँ दो साहित्यों की समता की निर्णायक नहीं हो सकतीं। मराठी साहित्य और हिन्दी साहित्य में विकास और प्रेरणा के मूलभूत अन्तर भी विद्यमान हैं जो दोनों साहित्यों की समता उतनी दूर तक नहीं जाने देतीं।

'दोष किसका' एक ऐसे विषय को स्पर्श करता है जिसके स्वतन्त्र विवेचन की आवश्यकता है। सम्पादन-कला और सम्पादक के कर्त्तव्य, सम्पादक और लेखक-वर्ग के पारस्परिक सम्बन्धों के प्रति कुछ प्रश्न हैं, कुछ उत्तर हैं, कुछ सुझाव। आधुनिक सम्पादक वर्ग से महादेवीजी यथेष्ट सन्तुष्ट नहीं, और होना भी नहीं चाहिए, पर इसका दोष सर्वांशतः वे सम्पादक वर्ग को देना भी नहीं चाहतीं। विचारों की स्पष्टता इस निबन्ध का अन्यतम शृंगार है।

'सुई दो रानी डोरा दो रानी' बदरीनाथ-यात्रा का विवरण है जो कहानी-कला की विशेषताओं से समन्वित है। यात्रा की मानसिक प्रतिक्रियाओं का आलेखन यहाँ प्रमुख है।

'अभिनय कला' में उस अछूते प्रश्न को उठाया गया है जो एक विस्तृत समालोचना की अपेक्षा करता है। शास्त्रीय युग से लेकर वर्तमान युग तक अभिनय-कला का एक धुँधला-सा रेखाचित्र है। अभिनय-कला की वे ही न्यूनताएँ प्रतिपादित हैं जो विभिन्न समालोचकों ने निर्देशित की हैं। व्यवसायी रंगमंच का अनुदान केवल इन्हीं अंशों में मान लेना कि उन्होंने अभिनय-कला की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है, समुचित नहीं जबकि स्वाँग और लीला-नाटकों तथा रासलीलाओं में अभिनय-कला ही प्रमुख रही है। व्यवसायी रंगमंच का दृष्टिकोण व्यापारिक ही अधिक रहा है, कलात्मक कम।

'हमारा देश और राष्ट्रभाषा' अत्यन्त सामान्य कोटि का निबन्ध है जिसमें पिष्टपेषण प्रधान है। नवीन सुझाव अथवा मौलिक परामर्श या चिन्तन की दृष्टि से यह निराशाजनक ही रहेगा। संस्कृति की एकता, उसकी गतिशीलता की पृष्ठभूमि चिर-परिचित तथ्य है जिस पर हिन्दी के संश्लिष्ट रूप एवं मूलगत गठन की बात कही गई है। हिन्दी राष्ट्रभाषा क्यों-बनी? यह तो परिचित है पर उसकी न्यूनताएँ, आवश्यकताओं अथवा सम्भावनाओं के

प्रति कोई मौलिक निर्देश नहीं। राष्ट्र-भाषा पर विचार नितान्त सामान्य भूमि पर ही हुआ है।

'साहित्य और साहित्यकार' साहित्य-सम्बन्धी कुछ स्थायी, शाश्वत और चिरन्तन प्रश्नों पर महादेवीजी के स्वतन्त्र कथन हैं—जो परम्परागत कहे जा सकते हैं। साहित्य को मूलतः निर्भाव मानना व्यष्टि और समष्टि के लिए अवश्य एक मौलिक अभिव्यक्ति है लेकिन व्यष्टि और समष्टि का देय कितना है, अथवा होना चाहिए यह विवेचित नहीं। व्यक्तिवादी और समाजवादी साहित्य की कोई भी सीमा-रेखा, विभाजन-रेखा किसी भी अर्थ में हितकर नहीं, यह असन्दिग्ध है। साहित्य को व्यक्तिवाद या समाजवाद के संकुचित परिक्षेत्रों में विभाजित करना स्वस्थता के लक्षण नहीं। इसके हेतु एक समरस और सौष्ठव का दृष्टिकोण अपेक्षित है। साहित्य-सृजन और रुचि, इच्छा, विवशता पर इधर वर्गवादी विवेचन ही देखे गए हैं। वस्तुतः यह एक ऐसा प्रश्न है जो अधिक समय तक वर्गों के प्रभाव में नहीं रह सकेगा। साहित्यकार की इच्छा और रुचि नियन्त्रित तो अवश्य नहीं की जा सकती (जैसा कि रूस में पिछले दिनों इस ओर कुछ प्रयत्न हुए थे) लेकिन कुछ स्थायी मूल्य शाश्वत मूल्य (Values) या अन्तिम सत्य साहित्य के, युगों ने निर्धारित तो कर ही दिए हैं। इस प्रकाश में महादेवीजी के व्यक्त विचार स्वागत-योग्य हैं। साहित्य और आजीविका का प्रश्न बहुत अधिक सामान्य धरातल पर हल नहीं किया जा सकता। आजीविका के हेतु ही सृजन, व्यापारिक भले हो, लेकिन बिना किसी प्रभाव और पूर्वाग्रह की साहित्य-सर्जना के लिए साहित्य का भी कुछ देय साहित्यकार को होना ही चाहिए। साहित्य पर विचारों की विभिन्नता में रुकाव स्थापित करना कठिन है, परम्परा और चिन्तन-शैली के भेद में साहित्य-सम्बन्धी चिन्तन भी पृथक् रहेगा, यह सत्य है और इसीलिए महादेवीजी के विचार भी कुछ नवीन जान पड़ें तो आश्चर्य नहीं।

'हमारे वैज्ञानिक युग की समस्या' में युगीन समस्याओं पर सामान्यतः वे ही विचार हैं जो अनेकों बार दुहराए जा चुके हैं। 'निकटता की दूरी', राजनीतिक इकाई का होना, अपने से परिचित होने के पूर्व विश्व-भर का परिचय प्राप्त कर लेना वैज्ञानिक युग की कतिपय मूलभूत समस्याएँ उठाई गई हैं जिनके सुलझाने के हेतु किसी तर्क-सम्मत उत्तर की अपेक्षा परम्परा का पूर्वाग्रह ही अधिक है।

कुल मिलाकर 'क्षणदा' के निबन्ध सामान्य कोटि के हैं। इनमें महादेवीजी का देय उतना नहीं जितना कि उनसे अपेक्षित किया जा सकता है। 'क्षणदा' उनके गद्य का प्रतिनिधित्व कर सकेगा इसमें सन्देह है। सामान्य धरातल पर तो ये निबन्ध उच्चकोटि के अवश्य प्रतीत होंगे, पर महादेवी के व्यक्तित्व से कुछ अधिक आशा है, थी। गद्य की भाषा में काव्य का अनुचित भार गद्य को निखार नहीं सकता यह प्रमाणित है। निबन्धों में तो फिर भी नहीं।[1]

---

१. महादेवी वर्मा, भारती भण्डार, प्रयाग।

शिवकुमार मिश्र

# ब्रह्मपुत्र

हिन्दी का कथा-साहित्य वर्तमान युग में अत्यधिक व्यापक और बहुमुखी जीवन-दृष्टि से सम्पन्न होकर द्रुतगति से अपने विकास की मंजिलें तय कर रहा है— सत्यार्थी जी के 'ब्रह्मपुत्र' उपन्यास की पृष्ठभूमि में यह कथन न तो अतिशयोक्तिपूर्ण ही है और न थोथे आशावाद का सूचक ही। प्रस्तुत उपन्यास को पढ़कर साहित्य का कोई भी प्रबुद्ध पाठक हिन्दी-कथा-साहित्य के इन विकासशील चरणों को परख सकता है।

प्रेमचन्द जी ने हिन्दी-कथा-साहित्य को एक नवीन मोड़ पर लाकर खड़ा कर दिया था जहाँ से वह तिलिस्मी और जासूसी दुनिया को छोड़ युग के यथार्थों की ओर उन्मुख हुआ था। समय के साथ-साथ अन्य उपन्यासकारों ने और भी न जाने कितने नूतन मार्गों की सृष्टि की, जिन पर चलकर हमारे कथा-साहित्य ने समाज के विविध अंगों की भाँति-भाँति से व्याख्या कर, उसके भाँति-भाँति के चित्र देकर अपने बहुमुखी स्वरूप का परिचय दिया। इन चित्रों में जहाँ अनेक चित्र आकर्षक, रमणीय, स्वस्थ्य, आशाप्रद व भव्य थे, वहाँ अनेक कुत्सित, अनगढ़, झूठे और संकीर्ण मनोवृत्ति को प्रकट करने वाले भी। जो चित्र अनगढ़, झूठे, कुत्सित, जनसाधारण की झाँकी से शून्य, उसकी समस्याओं से उदास थे, स्वस्थ मनोवृति वाले जागरूक पाठक वर्ग द्वारा वे तिरस्कृत हुए, उपेक्षित हुए और जनरुचि ने उन्हीं चित्रों से पूर्ण उपन्यासों और कथा-कहानियों को प्रश्रय दिया जिनमें उसके अपने सुख-दुःख प्रतिबिम्बित थे, जिनमें देश व समाज के विविध उत्थान-पतनों की व्यापक व्याख्या थी, उन्हें प्रगति के पथ पर ले चलने की क्षमता थी, एक आस्थामय जीवन-दर्शन था, निराशा और घुटन, तिक्तता और कडवाहट, पस्ती और रोग के चिह्न न थे, जिनमें अनुभूतियों की सचाई और ईमानदारी के साथ-साथ समाज व राष्ट्र के जीवन को एक नई चेतना देने का प्रयत्न था। यह प्रेमचन्द और प्रसाद की परम्परा थी जो अनेक रूपों में विकसित होकर अधिकाधिक ग्राह्य बनती गई। इस परम्परा में नई कड़ियाँ जोड़ी गईं, नये विषयों और उपादानों को इसमें गूँथा गया और कुछ ऐसे उपन्यासों की सृष्टि भी हुई जिन्हें 'आंचलिक' उपन्यासों की संज्ञा दी गई। इन आंचलिक उपन्यासों में देश के किसी भू-भाग के किसी विशेष अंचल के लोगों की कथा को स्थान मिला, उनके संघर्षो, उनके दैनंदिन जीवन, उनकी आशा-निराशाओं, विजयों-पराजयों के चित्र प्रस्तुत किये गए जो उन उपन्यासकारों की स्वस्थ जीवन-दृष्टि के कारण इतने अनूठे व भव्य प्रतीत हुए कि उनमें उनके एक विशेष भू-भाग से सम्बन्धित होने पर भी संकीर्णता न आने पाई, कुछ विशेष प्रकार के लोगों की जीवन-कथा होने पर भी जो सर्वग्राह्य बने रहे और हमारे प्रबुद्ध पाठक-वर्ग ने उन्हें सहर्ष अपनाया। आज हम हिन्दी कथा-साहित्य में इन आंचलिक उपन्यासों की भी एक धारा बहती हुई देख रहे हैं और हमें प्रसन्नता है कि इस प्रकार के उपन्यासों ने हमारी आशाओं को बल प्रदान किया है और कदाचित् इनमें कोई भी उपन्यास ऐसा नहीं है जो हमारे कथा-साहित्य में ह्रास की सूचना दे।

'ब्रह्मपुत्र' को 'आंचलिक उपन्यास' की संज्ञा दी जाय या नहीं, यह विवाद का विषय

हो सकता है और हम इस विवाद के पक्ष में भी नहीं हैं, हाँ इतना अवश्य है कि इसमें भी लेखक ने देश के एक विशेष भू-भाग के कुछ विशेष लोगों की कथा कही है। उसकी दृष्टि हिन्दी-भाषी प्रदेश को पार करके एक अहिन्दी-भाषी प्रान्तों के ऐसे लोगों के जीवन की ओर गई है जिसका उस प्रान्त में भी अपना एक विशिष्ट स्थान है और वह है—ब्रह्मपुत्र के किनारे बसने वाले असम के जनसाधारण का जीवन, उन नदी-पुत्रों का जीवन जो सदा ब्रह्मपुत्र के उल्लास और कोप का लक्ष्य बनते हुए भी उसके सम्मुख नतमस्तक रहे हैं; जिनके हृदय में उस 'ब्रह्मपुत्र' के लिए प्रगाढ़ श्रद्धा है, जो उनका जीवन, उनकी जीविका, उनकी मृत्यु, उनका काल सब-कुछ है, 'ब्रह्मपुत्र' का जिनके जीवन के साथ उतना ही घनिष्ट सम्बन्ध है जितना धरती के साथ किसान का, पुत्र के साथ उसके माता-पिता का होता है और जिसके सम्बन्ध में उनकी विविध हर्ष, शोक, भय, श्रद्धा, ममता आदि की भावनाएँ उनके गीतों में उतराई पड़ती हैं :

**ब्रह्मपुत्र कानो ते, बरह मथूरी जूथी,**
**आमी खारा लोरा जाई,**
**ऊटूबाई नीनीवा, ब्रह्मपुत्र देवता,**
**तामोल दी मनोता नाई।**

[ब्रह्मपुत्र के किनारे है बरह मथूरी गाछ, जहाँ हम ईंधन लाने जाते हैं। इसे लील मत लेना, ब्रह्मपुत्र देवता! हममें इतनी भी क्षमता नहीं कि हरी सुपारी से ही तुम्हारा अर्चन करें।]

लेखक ने एक अहिन्दी-भाषी प्रान्त के जनसाधारण के एक विशेष वर्ग के जीवन का जो भी चित्र उपन्यास में प्रस्तुत किया है वह उसकी विशाल दृष्टि का परिचायक तो है ही, उसके उन नदी-पुत्रों के जीवन के गहन अध्ययन और सूक्ष्म पर्यवेक्षण का भी प्रमाण है जिसे उसने महीनों उस प्रदेश में घूम-फिरकर किया था। उपर्युक्त कारणों से ही हम 'ब्रह्मपुत्र' उपन्यास को आंचलिक उपन्यासों की श्रेणी में रखने के पक्ष में हैं।

काका कालेलकर के शब्दों में यह 'नदी-पुत्रों के लोक-जीवन का पुराण' है। काका साहेब का यह कथन उपन्यास पर अधिकांशतः लागू होता है। उपन्यास को पढ़ते समय पाठक ब्रह्मपुत्र के उन तमाम बेटों के जीवन को, उनके संघर्षों की, उनके हर्ष-विषादों की, उनकी सबलताओं-दुर्बलताओं, उनकी जीवनचर्या, उनके सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक क्रिया-कलापों की जो झाँकी पाता है वह अत्यधिक रमणीय और यथार्थ होने के कारण ग्राह्य भी है। उसमें मन तो रमता ही है, वह हृदय को भी छूती है, उसकी सजीवता ही उसका प्राण है, उसके विवध चटकीले, धूमिल, गढ़े हल्के रंग ही उसका आकर्षण!

'ब्रह्मपुत्र' उपन्यास की कथावस्तु में उतना आकर्षण नहीं है जितना उसमें चित्रित नदी-पुत्रों के जीवन के विविध उतार-चढ़ाव से पूर्ण प्रसंगों में, उनके राजनीतिक संघर्षों में, उनकी सामाजिक एवं सांस्कृतिक छवियों में और यही सब मिलकर उपन्यास की कथावस्तु की सारी शिथिलता को ढक लेते हैं। क्रिया तो साधारण ही है, उस कथा के सब पात्रों के जीवन के जो चित्र लिपटे हुए हैं वही बारी-बारी से आकर पाठक को आनंदित किये रहते हैं हैं और कदाचित् उपन्यास रचने में सत्यार्थी जी का उद्देश्य भी यही रहा है कि उन नदी-पुत्रों

के जीवन की एक-एक रेखा को वे एक कथा के माध्यम से उभारते चले जाँय। कथा तो निमित्त-मात्र है—असमिया नदी-पुत्रों के जीवन की महान् गाथा को प्रस्तुत करने के लिए—इस कारण कथा के संगठन आदि पर विशेष टीका-टिप्पणी न तो आवश्यक ही है और न उपयुक्त ही। स्वतन्त्रता के पूर्व से लेकर भारत की स्वाधीनता के पश्चात् तक कथा का विस्तार है जिसमें अनेक छोटी-बड़ी घटनाओं ने मिलकर उस विशेष भू-भाग के राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक सभी प्रकार के उत्थान-पतनों को उभार दिया है। हिंसा-अहिंसा से लेकर भारत के राष्ट्रीय नवनिर्माण तक के न जाने कितने प्रश्नों पर लेखक अपने व अपने पात्रों के माध्यम से प्रकाश डालता चला गया है, कहीं भी लेखक का कोई पूर्वाग्रह नहीं दीख पड़ता, उसने एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण ही अपनाया है। उसकी दृष्टि मुख्यतः उस प्रदेश के लोक-जीवन के उद्घाटन की ओर ही रही है। उसके विचार स्वस्थ हैं, उसके निर्णय भले सर्वग्राह्य न हों।

पात्रों का बाहुल्य है। अनेक प्रकार के पात्र हमारे सामने आते हैं जिनमें कल्याण भगत, नीलमणि, राखाल काका, अब्दुल कादिर, धर्मानन्दी-जैसे बूढ़े पात्र भी हैं और देवकान्त, अतुल, नीरद, मुकन, प्रभात, जादू-जैसे युवक भी। विभिन्न अवस्थाओं के और भी न जाने कितने पात्र हैं, जो सब मिलकर उपन्यास के लोक-जीवन के चित्रण का माध्यम बनते हैं। इन पात्रों की अपनी-अपनी प्रवृत्तियाँ और विचार हैं—कुछ को अपने स्वयं के झंझटों और कार्यों से फुरसत नहीं, कुछ अधिक जागृत हैं और देश की विविध समस्याओं से लेकर अपने गाँव के छोटे-बड़े प्रश्नों पर यदा-कदा अपने विचार प्रकट करते हैं। युवक-वर्ग में तो नीरद, अतुल, देवकान्त, जादू, मुकन, प्रभात सभी क्रियाशील हैं! बूढ़ों के समुदाय में बात-बात पर नार्मन साहब का हवाला देने वाले राखाल काका ही ऐसे हैं जिनकी दृष्टि कुछ अधिक व्यापक है, शेष सब अपने ही जीवन मे केन्द्रित रहने वाले हैं। बूढ़ा धर्मानन्दी भी अन्य सामान्य पात्रों से अपना कुछ विशिष्ट व्यक्तित्व रखता है। कल्याण भगत दकियानूसी वैष्णवों के प्रतिनिधि हैं और नीलमणि को यही चिन्ता है कि उसके बाद उसका पुत्र अतुल ही गाँव-बूढ़ा बनकर अपने बाप-दादों की परम्परा को कायम रखे। धनसिंह और रतन नापित की दुकानें तो गाँव का समाचार-केन्द्र हैं! उनका वार्तालाप भी उपन्यास में कभी-कभी जीवन डाल देता है।

देवकान्त क्रान्तिकारी है। उसकी कथा ही वस्तुतः उपन्यास की कथा को भी गति देती है, उसका प्रभाव ही दिसांगमुख व उसके आस-पास फिरंगी सरकार के लिए सिर-दर्द बनने वाले कतिपय कार्यों को जन्म देता है, जिनके विविध परिणाम होते हैं। वही कथा को 'क्लाइ-मेक्स' तक पहुँचाता है जब उसकी गिरफ्तारी को लेकर दिसांगमुख वालों और फिरंगी-सरकार की मिलिट्री के बीच जमकर गोलियाँ चलती हैं। दिसांगमुख थाने का दारोगा गोपीनाथ अपने कतिपय सिपाहियों सहित इस संघर्ष में देवकान्त की ओर से जूझकर, अपनी बलि देकर अपने पिछले कृत्यों की कालिमा को धो जाता है और अत्याचारी नारायण दरोगा से सर्वथा विपरीत उदाहरण प्रस्तुत करता है। वस्तुतः देवकान्त की कथा ही फैलकर अधिकांश पात्रों को अपनी लपेट में लेती हुई, कथानक की अनेक घटनाओं को जन्म देकर, उनमें शनैः-शनैः तीव्रता उत्पन्न करके एक विषादमय अन्त को जन्म देती है। पर यह अन्त सदा विषादमय ही

नहीं रहता, जीवन फिर अपनी राह पर चल पड़ता है, आजादी आती है और भूकम्प भी; दिसांगमुख उजड़ता है और पुनः बसता है ? लोगों के सामने से स्वतन्त्रता से पूर्व और पश्चात् के चित्र गुजरते हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं होता, पहले का ही जीवन, पहले की ही सारी बातें, हर्ष-विषाद, आँसू और मुस्कराहटें सब पहले-जैसी; और तभी बूढ़ा धर्मानन्दी कहता है—

**"हम तो मछुए हैं। हमारा काम यही है—जाल फेंकें, मछलियाँ पकड़ें, आप खायें, दूसरों को खिलायें। धन्य है ब्रह्मपुत्र! धन्य हैं ब्रह्मपुत्र की मछलियाँ! देश गुलाम था, तो भी मछलियाँ जाल में फँसती रहीं। अब देश आजाद है तो भी बराबर जाल में फँस रही हैं मछलियाँ।"** तभी राखाल काका भी कहते हैं—

**"वैसे ही ब्रह्मपुत्र में बहकर आती लकड़ी पर टैक्स लगा हुआ है; वैसे ही पुलिस धौंस जमाती है; वैसे ही हमारे नेता हमें केवल वोट लेने के समय ही याद करते हैं** × × × × **न रिश्वत समाप्त हुई है, न सिफारिशों का जोर कम हुआ है। दिया जलाकर ढूँढ़ देखो। न्याय नाम की चीज नहीं मिलती।"** परन्तु इन नदी-पुत्रों को किसी से कोई शिकवा नहीं है, ये परिश्रमी हैं, अपने बाजुओं पर भरोसा किये, जीवन की नाव खेते रहते हैं और कथा भी समाप्त हो जाती है।

बीच-बीच में अन्य अनेक पात्रों द्वारा भी दिसांगमुख के जन-जीवन की अनेकानेक दुर्बलताएँ और विशेषताएँ उभरती हैं। वहाँ के लोगों की पारस्परिक फूट, असमिया, मीरी व नेपालियों का संघर्ष, सब-कुछ साफ होता चलता है। नीरद लेखक है, जो ब्रह्मपुत्र पर कोई पुस्तक लिख रहा है; अतुल अहिंसावादी है, पत्नी जूनतारा का मोह ही कदाचित् जिसे अहिंसावादी बना देता है; कारण देवकान्त का साथ देने के अर्थ थे जूनतारा का बिछोह और जो उसे स्वीकार न था। नीरद भी अहिंसात्मक सत्याग्रह में भाग लेता है पर जाने क्यों वह हमें प्रभावित नहीं कर पाता। उसकी 'ब्रह्मपुत्र' पर लिखी जाने वाली पुस्तक भी अन्त तक प्रकाशित नहीं हो पाती जिसके बारे में उसे आशा थी कि शायद उस पर उसे नोबल पुरस्कार भी मिल जाय। नीरद व सत्यार्थी जी में कितना साम्य है यह पाठकों के देखने-समझने की बात है। नीरद की 'ब्रह्मपुत्र' तो प्रकाशित हुई नहीं अतः उसके विषय में तो हम कुछ नहीं कह सकते, हाँ, सत्यार्थी जी की 'ब्रह्मपुत्र' हमारे सामने है, जिसके बारे में हम ऐसा कुछ नहीं सोचते। माझुली का सारा नवयुवक-वर्ग संघर्षशील है; जादू, मुकन, प्रभात सभी क्रियाशील हैं और सभी हमें प्रभावित करते हैं; अन्धा सूरदास माझुली के पात्रों में कदाचित् पाठकों की सबसे अधिक श्रद्धा समेट लेता है। शेष पात्र सामान्य कोटि के हैं, जो असमिया लोक-जीवन के रिक्त स्थानों की पूर्ति करते हैं।

नारी-पात्रों में प्रमुख जूनतारा, आरती व हाउसन साहब की पुत्री लिली हैं। प्रारम्भ की 'अनन्त यौवना' जूनतारा अन्त तक पाठकों को अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाती। विवाह के पश्चात् ही उसका जीवन पति व परिवार तक ही सीमित हो जाता है और वह अपनी एक, दो, तीन, चार सन्तानों का पालन-पोषण करती हुई एक सामान्य नारी की भाँति जीवन-यापन करने लगती है। दूसरी ओर मछुए धर्मानन्दी की पुत्री आरती अन्त तक संघर्षशील रहती है, क्रियाशील रहती है, पुलिस के अत्याचारों को सहती है, उनके विरुद्ध

आवाज़ बुलन्द करती है और अन्त में अपने अप्राप्य प्रेमी देवकान्त की मृत्यु के पश्चात् उसकी प्रतिमा को हृदय में बसाये हुए ही, अर्द्ध विक्षिप्त-सी लेखक द्वारा एक अनिश्चित और निरुद्देश्य भविष्य की गोद में डाल दी जाती है। आरती के जीवन को अन्त में उपन्यासकार ने जो भी मोड़ दिया है, वह उसके प्रति न्याय नहीं करता। उसकी साधना का उसे इच्छित परिणाम तो मिलता नहीं, उसे विक्षिप्त बनाकर उपन्यासकार उसे पाठकों की सहानुभूति तो दिला देता है, पर आरती उस सहानुभूति के अतिरिक्त पाठकों की श्रद्धा की पात्र भी थी। लिली का चरित्र सामान्य है, नीरद की पत्नी बनकर वह अपने असम-प्रेम को चरितार्थ कर देती है वैसे फिरङ्गियों के शासन का समर्थन उससे सदा ही होता रहता है ! बाद को उसमें जो भी परिवर्तन होते हैं, नीरद, अतुल व देवकान्त के प्रभाववश; पर ये सारे परिवर्तन लिली के चरित्र को सामान्य से विशेष नहीं बना पाते !

नारी-पात्रों में केवल आरती हमें प्रभावित करती है, उसका चरित्राङ्कन लेखक ने कुशलता से किया है ! असम के जन-जीवन की गायिका आरती हमें दीर्घ काल तक याद रहती है, उसे हम सहसा भूल नहीं पाते !

भाषा साफ और प्रवाहमयी है। बीच-बीच में असम के लोक-जीवन को उभारने वाले न जाने कितने स्थानीय शब्दों का व्यवहार किया गया है जो कर्णप्रिय तो हैं ही वातावरण की यथार्थता को बल भी प्रदान करते हैं। शब्द ही नहीं, कहीं-कहीं तो असमिया लोक-भाषा के वाक्य-के-वाक्य उठाकर रख दिए गए हैं। असमिया कहावतों और मुहावरों को भी भाषा में यथास्थान गूँथ दिया गया है। अधिकांशतः ये कहावतें और मुहावरे ऐसे ही हैं जिनमें प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से 'ब्रह्मपुत्र' समाया हुआ है। भाषा की ये विशेषताएँ अन स्थानीय वातावरण से मिलकर वहाँ के एक-से-एक सजीव व यथार्थ चित्र प्रस्तुत करती हैं स्थानीय वातावरण खूब उभरा है। 'असमिया', 'मीरी', व 'नेपालियों' का झगड़ा, 'नावरियों', 'किसानों', 'मछुओं' व 'जुलाहों' की आपस में एक-दूसरों के लिए की गई टीका-टिप्पणियाँ, धनसिंह व रतन नापित की गप्पें, राखाल काका द्वारा चाँद-दूबी के जंगलों का बखान व हाथी दूबी घास के प्रदेशों का वर्णन, हाथियों के किस्से, बोहाग बिहू के अवसर पर सबका मिलकर नृत्य, 'लाओ पानी' पीकर झूमते बाल, वृद्ध, तरुण, युवतियाँ, प्रौढ़ाएँ व बूढ़ियाँ, दबूर पूजा की भयानकता, सब वातावरण की सजीवता को बढ़ाकर वहाँ के लोक-जीवन को साकार कर देते हैं। 'ब्रह्मपुत्र' का असम के लोक-जीवन में कितना स्थान है, उपन्यास से यही पूर्णरूपेण स्पष्ट हो जाता है। कथा अवश्य दिसांगमुख की है पर उसे दिसांगमुख की नहीं ब्रह्मपुत्र के किनारे बसने वाले समस्त नदी-पुत्रों की कथा समझना चाहिए।

उपन्यास में दुर्बलताएँ भी अनेक हैं। असमिया लोक-जीवन के चित्रण की धुन में उपन्यासकार ने कहीं-कहीं लम्बे-लम्बे वर्णन शुरू कर दिए हैं जो प्रसंग के बहुत अनुरूप न होने के कारण चिपकाये-से प्रतीत होने लगते हैं। ऐसा कई स्थानों पर है। ये ही वर्णन यदि किसी चले आते हुए प्रसंग का विस्तार होते तो और बात थी, पर ऐसा नहीं है इस कारण ये कथा के प्रवाह में रुकावट डालते हैं। सब-कुछ होने पर भी आखिर कृति उपन्यास ही है और शायद लेखक भी इससे इन्कार नहीं करेगा। कुछ प्रसंगों को अनावश्यक विस्तार दिया है और कुछ की आवश्यक चर्चा है। अतुल व जूनतारा-सम्बन्धी विवाह से पूर्व के

(suspense) को इतना महत्त्व देने की आवश्यकता न थी जब लेखक को दोनों का विवाह कराना ही था। विवाह भी सहसा ही होता है, कारण विवाह से पूर्व इस सम्बन्ध में जूनतारा की ओर से सदैव ही उदासीनता व अतुल के प्रति उपेक्षा दिखाई पड़ती है। लिली की कथा, नीरद व उसकी पुस्तक 'ब्रह्मपुत्र' की चर्चा, नीरद व लिली-प्रसंग भी अनावश्यक विस्तार पा गए हैं, वस्तुतः उपन्यास की कथा दिसांगमुख में मिलिट्री व पुलिस वालों तथा देवकान्त आदि के संघर्ष के पश्चात् समाप्त हो जानी चाहिए थी पर उसे स्वतन्त्रता के पश्चात् तक खींच ले जाना अधिक उपयुक्त नहीं मालूम पड़ता। हो सकता है लेखक ने स्वतन्त्रता के पश्चात् के असम के जन-जीवन की दशा को दिखाने के कारण ही कथा को विस्तार दिया हो, पर स्वतन्त्रता के पश्चात् की कथा नीरस हो गई है इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

रानी गुइडालो का अचानक दिसांगमुख में प्रवेश एकदम नाटकीय-सा लगता है और विशेष प्रभावशाली भी नहीं है। मूक एवं यन्त्रचालित प्रतिमा की भाँति इधर-उधर डोलती रानी गुइडालो हमें कदापि प्रभावित नहीं कर पातीं, कारण उसका यह चित्र उसके विद्रोही स्वरूप से कतई मेल नहीं खाता जिसका उल्लेख लेखक ने देवकान्त के मुख से प्रारम्भ में कराया था। प्रारम्भ की विद्रोहिणी रानी गुइडालो दिसांगमुख के चक्कर ही लगाती रहती है, उसके मुख से एक भी शब्द नहीं फूटता।

लोक-गीतों को कुछ स्थानों पर तो उनके मूल रूप में रखा गया है पर अन्य स्थानों पर वे अनूदित रूप में भी प्रस्तुत किये गए हैं, विशेषकर 'बोहाग बिहू' के अवसर पर गाये जाने वाले गीत। यदि ये गीत भी अपने मूल रूप में हिन्दी अनुवाद के साथ दिये गए होते तो अधिक आकर्षक लगते।

कुल मिलाकर 'रथ के पहिए' और 'कठपुतली' के बाद प्रस्तुत उपन्यास सत्यार्थी जी की हिन्दी कथा-साहित्य को एक महत्त्वपूर्ण देन है। आज हमें ऐसे ही और उपन्यासों की आवश्यकता है जो हमारे देश के विभिन्न अंचलों के लोक-जीवन के चित्र हों, जिनको पढ़कर हम भारत के विशाल भू-भाग में बसने वाले भिन्न-भिन्न निवासियों के जीवन से परिचित हो सकें। सत्यार्थी जी ने इस दिशा की ओर अब तक जो भी प्रयत्न किया है वह सराहनीय है। 'ब्रह्मपुत्र' उपन्यास द्वारा उन्होंने असम के नदी-पुत्रों के लोक-जीवन को एक कथा के रूप में पिरोकर जो सजीवता प्रदान की है उसके लिए हम उन्हें पुनः बधाई देते हैं। हमें विश्वास है कि हिन्दी के पाठक इस उपन्यास को हर्षपूर्वक अपनायेंगे।[1]

---

१. ब्रह्मपुत्र, लेखक—श्री देवेन्द्र सत्यार्थी; प्रकाशक—एशिया प्रकाशन, नई दिल्ली; मूल्य—सात रुपये; पृष्ठ संख्या—४५२।

*डॉक्टर कृष्णदेव उपाध्याय*

# वैदिक साहित्य और संस्कृति

वेद भारतीय संस्कृति के स्रोत हैं। समस्त भारतीय धर्मों के ये मूल हैं, क्योंकि अवान्तर-काल में इस देश में जितने भी धर्मों का उदय हुआ उनका मूल रूप इनमें उपलब्ध होता है। इतना ही नहीं काव्य, नाटक, संगीत, दर्शन आदि जितने भी शास्त्र हैं उनका बीज वेदों में निहित है। भारतीय धर्म तथा दर्शन पर वैदिक साहित्य की कितनी गहरी छाप पड़ी है यह बात विद्वानों से छिपी हुई नहीं है। अतएव इन्हें भारतीय संस्कृति का विश्व-कोष कहें तो कुछ अत्युक्ति न होगी। ऐसी दशा में यह हमारा परम कर्त्तव्य है कि वेदों में निहित अपनी प्राचीन संस्कृति को प्रकाश में लावें और उनके दिव्य सन्देश को अपने देशवासियों को सुनावें। स्वतन्त्र भारत में वेदों की प्रेरणा और प्रोत्साहन प्रदान करने वाली वाणी का बड़ा महत्त्व है। अतएव इस स्वर्गीय वाणी की व्याख्या करना और उसके उपदेशों का दैनिक व्यवहार में पालन करना हमारा राष्ट्रीय कर्त्तव्य है।

वेदों के सम्पादन और प्रकाशन का अधिकांश श्रेय पश्चिमी विद्वानों को प्राप्त है। इस दिशा में प्रो० मैक्समूलर के अथक परिश्रम को कभी भुलाया नहीं जा सकता। यूरोप की अनेक भाषाओं में वेदों के अनुवाद हो चुके हैं। डॉ० कीथ ने वैदिक धर्म तथा दर्शन की विशद व्याख्या अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थों में की है। डॉ० ए० सी० दास ने 'ऋग्वेदिक इण्डिया' तथा 'ऋग्वेदिक कल्चर' नामक ग्रन्थों द्वारा वेदों के रचना-काल तथा वैदिक-संस्कृति पर प्रचुर प्रकाश डाला है। ग्रेसओल्ड का 'रिलिजन ऑफ़ दि ऋग्वेद' इस दिशा में प्रशंसनीय प्रयास है। परन्तु हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी में अभी तक एक ऐसे सर्वाङ्गीण ग्रन्थ का अभाव था, जिसके द्वारा हम वैदिक साहित्य और संस्कृति से पूर्ण रूप से परिचित हो सकते। हर्ष का विषय है कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत-साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् प्रोफ़ेसर बलदेव उपाध्याय ने उपर्युक्त ग्रन्थ की रचना करके इस बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की है। हिन्दी में पं० रामगोविन्द त्रिवेदी तथा श्री भगवद्दत्त ने वेदों को जनता के सामने लाने का अवश्य स्तुत्य प्रयत्न किया है परन्तु उन लोगों का प्रयास वैदिक साहित्य के इतिहास तक ही सीमित है। अंग्रेजी में भी जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनमें भी एक स्थान पर वैदिक साहित्य तथा संस्कृति-सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध नहीं होती। अनेक बृहत्काय ग्रन्थों में इस सामग्री के बिखरे रहने के कारण साधारण पाठकों को यह प्राप्य नहीं। ऐसी दशा में उपाध्याय जी ने समस्त वैदिक साहित्य तथा संस्कृति को हिन्दी जनता के सामने एकत्र प्रस्तुत करके हमारा बड़ा उपकार किया है।

वर्तमान ग्रन्थ तीन खण्डों में विभक्त किया गया है—(१) प्रवेश खण्ड, (२) इतिहास खण्ड, (३) संस्कृति खण्ड। प्रवेश खण्ड में पाँच परिच्छेद हैं। इस खण्ड के प्रथम परिच्छेद में वेदों के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। इनके धार्मिक महत्त्व को बतलाते हुए इनकी भाषागत महत्ता पर भी जोर दिया गया है। भारतीय जीवन में वेदों का सांस्कृतिक महत्त्व भी कुछ कम नहीं है। समस्त काव्य-शास्त्र तथा दर्शनों के बीज वेदों में सन्निहित हैं। इन विषयों का भी थोड़ा वर्णन आवश्यक है। द्वितीय परिच्छेद में वेद और ब्राह्मण

दर्शनों का वर्णन प्रस्तुत किया है। वेदों के पाठ की रक्षा के लिए हमारे आचार्यों ने आठ प्रकार की विकृतियों—संहिता, पद, क्रम, जटा, शिखा तथा घनपाठ आदि—की जो उद्भावना की थी उदाहरण के साथ लेखक ने उनका सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है। इससे ज्ञात होता है कि हमारे पूर्वज वेदों की रक्षा के सम्बन्ध में कितने सतर्क थे। तीसरे परिच्छेद में वैदिक अनुशीलन के इतिहास का विस्तृत विवेचन है। पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किये गए कार्यों को—वैदिक ग्रन्थों के संस्करण, अनुवाद तथा व्याख्या तीन शीर्षकों में विभक्त करके इनकी विशद विवेचना की गई है। पाश्चात्य देशों में आज तक वेदों के सम्बन्ध में जो अनुसन्धान हुआ है उसका सविस्तर वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया गया है, जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं। नवीन भारत में वेदों की शोध के लिए जो प्रयास हुआ है उसका भी संक्षिप्त-रूप में उल्लेख पाया जाता है। चतुर्थ परिच्छेद में वेदों की व्याख्या-पद्धति की चर्चा करते हुए लेखक ने पाश्चात्य-पद्धति—हिस्टारिकल मैथड—के गुण-दोषों की सम्यक् मीमांसा की है। भारतीय व्याख्या-पद्धति की आलोचना करते हुए उपाध्यायजी ने सायण की समधिक महत्ता का प्रतिपादन किया है जो उचित ही है। अन्तिम परिच्छेद में वेदों का काल-निरूपण किया गया है, जिसमें पाश्चात्य तथा पौर्वात्य विद्वानों के विभिन्न मतों की चर्चा करते हुए लोकमान्य तिलक के मत को विशेष मान्यता दी गई है।

इतिहास-खण्ड में विद्वान् लेखक ने वैदिक साहित्य का सर्वाङ्गीण विवेचन पाठकों के सम्मुख समुपस्थित किया है। इस खण्ड को ग्रन्थ की आत्मा समझना चाहिए। षष्ठ परिच्छेद में वेदों की चारों संहिताओं का पूर्ण परिचय दिया गया है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद का वर्णन करते हुए लेखक ने ऋग्वेद का क्रम, ऋचाओं की संख्या, शाखाओं तथा विशिष्ट विषयों का विवेचन प्रस्तुत किया है। ऋग्वेद दार्शनिक विचारों का अक्षय भाण्डार तो है ही इसके साथ ही काव्य की दृष्टि से भी उसका कुछ कम महत्त्व नहीं है। विशेषतः वैदिक ऋषि ने जहाँ उषा का वर्णन किया है वह स्थल काव्य की दृष्टि से बहुत ही सुन्दर है। इस विषय की ओर भी संकेत करना चाहिए था। इसी प्रकार से 'यजुर्वेद', 'सामवेद' तथा 'अथर्ववेद' का भी वर्णन किया गया है। 'सामगान पद्धति', सामगान के प्रकार आदि विषयों की चर्चा सम्भवतः हिन्दी में यहाँ पहली बार उपलब्ध होती है। 'अथर्ववेद' में मन्त्र-तन्त्र तथा अभिचार की प्रधानता है। इस विषय का वर्णन तो अवश्य किया गया है परन्तु अत्यन्त संक्षिप्त होने के कारण पाठकों की जिज्ञासा उससे तृप्त नहीं होती। सप्तम परिच्छेद में ब्राह्मण-साहित्य की विशद मीमांसा प्रस्तुत की गई है। विभिन्न वेदों से सम्बद्ध भिन्न-भिन्न ब्राह्मणों की विवेचना करके उनका सम्यक् महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। अष्टम परिच्छेद के वर्ण्य-विषय हैं आरण्यक और उपनिषद्। उपाध्यायजी ने उपनिषदों के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए इनमें प्रधान तेरह उपनिषदों के विषयों का भी विवेचन किया है। उपनिषद्-सम्बन्धी यावत् ज्ञातव्य बातें हैं वे सभी यहाँ उपलब्ध होती हैं। परन्तु भारतीय तत्त्वज्ञान के इतिहास में उपनिषदों का जो महत्त्वपूर्ण स्थान है उसकी दृष्टि से यह वर्णन संक्षिप्त कहा जा सकता है। उपनिषदों में जो श्रेष्ठ तत्त्वज्ञान निहित है उसकी चर्चा यहाँ होनी आवश्यक थी। भारतीय विभिन्न दार्शनिक वादों के बीज उपनिषदों में सन्निहित हैं इस ओर भी संकेत करना चाहिए था। नवम परिच्छेद में वेदाङ्गों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

कुछ लोगों का यह अनुमान है कि शिक्षा (Phonetics) का अध्ययन अर्वाचीन है। परन्तु लेखक ने इस विषय की विस्तृत मीमांसा करते हुए यह दिखलाने का प्रयास किया है कि प्राचीन भारत में उच्चारण पर कितना जोर दिया जाता था। उपाध्याय जी लिखते हैं कि—

**"इन शिक्षा-ग्रन्थों के अनुशीलन से यह भली भाँति सिद्ध होता है कि प्राचीन ऋषियों ने भाषा-शास्त्र के इस आवश्यक अंग का कितना वैज्ञानिक अध्ययन किया था। आजकल के पाश्चात्य विद्वान् भी उच्चारण विद्या ( फोनोलाजी ) के अन्तर्गत इस विषय का अध्ययन करते हैं। इस विषय का इतना गम्भीर वर्णन तथा अनुशीलन प्राचीन भारतीयों की उच्चारण-सम्बन्धी वैज्ञानिक गवेषणा के द्योतक हैं।"**[1]

शिक्षा के अतिरिक्त कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष का वर्णन भी विस्तारपूर्वक हुआ है।

इस ग्रन्थ का तीसरा खण्ड संस्कृति-खण्ड है जो अत्यन्त मौलिक तथा महत्त्वपूर्ण है। विद्वान् लेखक ने अगाध वैदिक वाङ्मय का आलोड़न करके इस खण्ड की रचना की है। वेद हमारे धर्म और दर्शन के ही कोष नहीं हैं प्रत्युत् उनमें हमारी प्राचीन संस्कृति भी प्रतिबिम्बित है। इसी संस्कृति को प्रकाश में लाने का प्रथम बार प्रयास विद्वान् लेखक ने यहाँ पर किया है।

इस पुस्तक के दशम परिच्छेद में वैदिक भूगोल का वर्णन हुआ है जिससे ज्ञात होता है कि वैदिक ऋषियों का भूगोल-सम्बन्धी ज्ञान कितना व्यापक था। इसी प्रकरण में आर्यों के निवास-स्थान का भी वर्णन किया गया है जिसमें पश्चिमी तथा पूर्वी सभी विद्वानों के मतों का खण्डन-मण्डन सप्रमाण मिलता है। परन्तु इस विषय की चर्चा यहाँ न करके यदि प्रथम खण्ड के अन्त में की जाती तो अधिक समुचित होता। एकादश परिच्छेद में आर्यों और दस्युओं का उल्लेख है। द्वादश परिच्छेद का विषय सामाजिक जीवन है। इसमें वेदकालीन आर्यों के रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाज पर प्रचुर प्रकाश डाला गया है। वैदिक आर्यों की गृह-रचना कैसी थी, वे किस प्रकार के वस्त्रों को धारण करते थे तथा उनका प्रिय भोजन क्या था? इन विषयों का वर्णन बड़ा ही रोचक तथा सुन्दर है। विशाल वैदिक-साहित्य में जिसकी पूरी पैठ है वही इस कठिन कर्म में सफलता प्राप्त कर सकता है और वर्तमान लेखक को इसमें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। त्रयोदश परिच्छेद में आर्यों के आर्थिक जीवन का परिचय दिया गया है। उस प्राचीन काल में द्रव्य-विनिमय कैसे होता था? आर्यों के व्यापार की क्या पद्धति थी? कृषि किस प्रकार की जाती थी आदि विषयों की चर्चा बड़ी ही मनोरंजक है। यह बात कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि वैदिक आर्य उस सुदूर काल में भी अन्य देशों से व्यापार करते थे। उनके विशाल जलयान समुद्र की छाती को चीरते हुए दूर देशों में भारतीय विक्रेय वस्तुओं को ले जाते थे।

चतुर्दश परिच्छेद आर्यों के राजनीतिक जीवन से सम्बन्ध रखता है। इसमें राजसत्ता, समिति, सभा, रत्नी तथा विभिन्न प्रकार की शासन-पद्धतियों का सविस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया गया है। यह बात बड़ी आश्चर्यजनक ज्ञात होती है कि उस काल में भी इस देश में गणतन्त्रात्मक राज्यों की सत्ता थी जिनमें आजकल की 'डेमोक्रेसी' से कहीं अधिक स्वतन्त्रता

---

१. **'वैदिक साहित्य तथा संस्कृति'**, पृ० २८५।

जनता को प्राप्त थी। प्रजा ही राजा की नियुक्ति करती थी और अभिषेक के अवसर पर राजा को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि मैं प्रजा की इच्छा के विरुद्ध कोई आचरण नहीं करूँगा।

इस पुस्तक के पञ्चदश तथा अन्तिम अध्याय में आर्यों के धार्मिक जीवन का विवेचन किया गया है। देवताओं का परिचय देते हुए लेखक ने उनके निवास-स्थान के आधार पर इन्हें तीन श्रेणियों—द्युस्थान देवता, अन्तरिक्ष स्थान देवता, पृथ्वी स्थान देवता—में विभक्त किया गया है। प्रत्येक देवता की विशेषताओं का वर्णन उपाध्याय जी ने बड़ी ही सुन्दर रीति से किया है तथा अपने कथन की पुष्टि में उन्होंने स्थान-स्थान पर वैदिक मन्त्रों का उद्धरण भी दिया है। उषा का यह वर्णन कितना रमणीय तथा हृदयस्पर्शी है—"**उषा का मानवीय रूप सौन्दर्य का चरम अवसान है। नर्तकी के समान प्रकाशमय वस्त्रों से सज्जित, आलोक से आवृत उषा जब क्षितिज पर उदय होती है तब वह रजनी के घोर अन्धकार को सिले हुए वस्त्रों के समान दूर फेंक देती है। 'पुराणी युवतिः' शब्दों का प्रयोग उषा के लिए इसी निमित्त होता है कि वह पुरातीन होने पर भी नित्य उत्पन्न होती है।**"[1] इन्द्र वैदिक आर्यों का सबसे बड़ा देवता था। इसने वृत्र का वध करके अवरुद्ध जल को मुक्त किया था। इन्द्र-वृत्र-युद्ध के सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित हैं। लेखक ने उन सभी मतों की चर्चा करते हुए इस विषय पर प्रचुर प्रकाश डाला है।

इस अध्याय में यज्ञ संस्था का बड़ा ही विस्तृत तथा सटीक विवरण उपलब्ध होता है। 'अग्निहोत्र', 'दर्शपूर्ण मास', 'आग्रहायण', 'सौत्रायण' आदि यज्ञों का विधिवत् वर्णन किया गया है। आर्यों के जीवन में यज्ञों का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान था। अतएव वेद तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में अनेक प्रकार के यज्ञों का विधान पाया जाता है जिनका समझना भी आजकल कठिन हो गया है। लेखक ने इस विषय का गम्भीर अध्ययन करके यज्ञों के रहस्य का उद्घाटन यहाँ प्रथम बार किया है। उपसंहार में वेद की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। प्राचीन धर्म तथा दर्शन के ज्ञान के लिए वेदों का अध्ययन तो आवश्यक है ही इसके अतिरिक्त कर्मठता, देश-भक्ति तथा परोपकार व्रत को ग्रहण करने के लिए भी वेदों का अध्ययन अनिवार्य है। उपाध्याय जी वेदों के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए लिखते हैं कि—"**वेद अनन्त है, वेद गम्भीर है। वेद के गम्भीर अर्थ तथा रहस्य की सूचना इस घटना से भी पर्याप्तरूपेण मिलती है कि अपने उदयकाल से लेकर वर्तमान काल तक यह नाना विचार वाले लोगों को प्रेरणा तथा स्फूर्ति देता आया है। × × × वेद मनुष्यों को कर्मठ, देश-भक्त तथा परोपकारी बनने का शिक्षा देता है। वह स्वावलम्बी मानव के मूल-मन्त्र का रहस्य बतलाता है—'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः—।' यह सम्पत्ति को मानवों में बाँट देने की शिक्षा देता है। 'शत हस्त समाहर सहस्र हस्त संकिर'।**"

पुस्तक के प्रथम परिशिष्ट में वैदिक व्याकरण तथा स्वर-प्रक्रिया का विवेचन विस्तार के साथ किया गया है। दूसरे परिशिष्ट में इस ग्रन्थ में आये हुए शब्दों की अनुक्रमणी दी गई है, जो बहुत ही उपयोगी है।

'वैदिक साहित्य तथा संस्कृति' को पढ़कर पाठकों के हृदय पर जो सबसे बड़ा प्रभाव

---

१. 'वैदिक साहित्य तथा संस्कृति', पृ० ५००।

पड़ता है—वह है इस ग्रन्थ के विषय की व्यापकता। विद्वान् लेखक ने वेद के सम्बन्ध में जो भी ज्ञातव्य बातें हो सकती हैं उन सबको इस ग्रन्थ में पाठकों के लिए एकत्र समुपस्थित एवं सुलभ कर दिया है। वैदिक साहित्य तथा वैदिक संस्कृति के विभिन्न अवयवों की जो सामग्री अनेक बृहत्काय तथा बहुमूल्य अंग्रेजी एवं जर्मन भाषा के ग्रन्थों में निहित है उन सबका सम्यक् अनुशीलन करके उनका निचोड़ (तत्त्व अंश) इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया है। राष्ट्रभाषा तथा हिन्दी जनता की इस महती सेवा के लिए उपाध्याय जी हिन्दी-जगत् के धन्यवाद के पात्र हैं। इससे पहले 'भारतीय दर्शन', 'बौद्ध-दर्शन' तथा 'भागवत-सम्प्रदाय' आदि अनेक ग्रन्थों की रचना करके लेखक ने भारतीय तथा बौद्ध-दर्शन के रहस्य का उद्घाटन किया था परन्तु वैदिक साहित्य, दर्शन तथा संस्कृति के परिचय से हिन्दी जनता वंचित ही थी। प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना करके लेखक ने वेद की दिव्य तथा स्वर्गीय वाणी से हिन्दी जनता को परिचित कराने का प्रयास किया है। इस ग्रन्थ-रचना से एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति हुई है इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता।

वर्तमान ग्रन्थ के अध्ययन से लेखक की तलस्पर्शिनी विद्वत्ता का परिचय मिलता है। लेखक वेद का अधिकारी विद्वान् है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में गत पैंतीस वर्षों से वेद के अध्ययन और अध्यापन में ही उसका जीवन व्यतीत हुआ है। आधुनिक पाश्चात्य अनुसन्धान-प्रणाली के साथ ही वह प्राचीन संस्कृत-परम्परा का भी ज्ञाता है। अतएव इस ग्रन्थ में वेद के सम्बन्ध में जो-कुछ लिखा गया है वह साधिकार लिखा गया है। लेखक ने 'नामूलं लिख्यते किञ्चित् नानपेक्षितमुच्यते' इस मल्लीनाथी प्रतिज्ञा का पूर्णतः निर्वाह किया है। 'वेद की व्याख्या-पद्धति', 'वेदों का रचना-काल', तथा 'वैदिक आर्यों का निवास-स्थान' वाले प्रकरणों में पश्चिमी तथा पूर्वी विद्वानों के मतों का प्रतिपादन करके लेखक ने उभयविध पद्धतियों के ज्ञान का अच्छा परिचय दिया है। जहाँ वैदिक साहित्य वाले खण्ड में संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा वेदाङ्गों का सविस्तृत वर्णन किया गया है वहाँ संस्कृति वाले खण्ड में आर्यों के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा धार्मिक जीवन का साङ्गोपाङ्ग विवेचन उपलब्ध होता है। अपने कथन की पुष्टि में दिये गए वैदिक ग्रन्थों के संकेतों तथा उद्धरणों से पता चलता है कि लेखक ने वैदिक वाङ्मय का मन्थन करके इस ग्रन्थ की रचना की है।

उपाध्यायजी की भाषा-शैली सुबोध तथा सरल है। विषय के गम्भीर होने पर भी इन्होंने उसे बड़ी ही सरल रीति से समझाने का प्रयास किया है। आपकी भाषा भावों के अनुकूल बन पड़ी है। जहाँ किसी गम्भीर विषय का विवेचन करना है वहाँ की भाषा स्वभावतः संस्कृत-पदावली से युक्त तथा समासबहुला हो गई है फिर भी उसमें दुर्बोधता नहीं आने पाई है। जैसे—"**वेद इस विशाल ब्रह्माण्ड में अनेक प्रकार से जागरूक तथा नाना अभिव्यक्तियों में प्रकाशशील एक अचिन्त्य-शक्ति का शाब्दिक उन्मेष है—वर्णमय विग्रह है। वह प्रातिभ-चक्षु से साक्षात्कृत तथ्यों का प्रशंसनीय पुञ्ज है। वैदिक युग के मनीषियों तथा लोकातीत आर्ष-चक्षुर्मण्डित द्रष्टाओं की वाणी में सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक नैतिकता तथा धर्म की मूल प्रेरणाओं का स्फुरण हो रहा है।**"[1] दूसरे स्थानों में बड़ी सरल, सीधी-सादी भाषा का प्रयोग

१. **'वैदिक साहित्य और संस्कृति', पृष्ठ ५२६।**

किया गया है जिसमें छोटे-छोटे शब्दों का व्यवहार हुआ है। वेदों की महत्ता के विषय में लेखक कहता है—

**"वेद अनन्त है। वेद गम्भीर है। वेद अपौरुषेय है। वेद नित्य है। वेद रहस्यमय है। वेद का ज्ञान गम्भीर है। वह किसी एक मानव-जाति का ग्रन्थ नहीं है।"**[1]

परन्तु कहीं-कहीं भाषा इतनी क्लिष्ट हो गई है कि भाव उसमें दब-से गये हैं और साधारण पाठकों के लिए उसके अर्थ को समझना कठिन-सा हो गया है। लेकिन ऐसे स्थल बहुत ही कम हैं।[2]

इस ग्रन्थ में जो सबसे बड़ी त्रुटि है वह है वैदिक साहित्य-सम्बन्धी पुस्तकों की सूची का अभाव। वेदों के विशाल साहित्य के सम्बन्ध में अंग्रेजी, फ्रेञ्च तथा जर्मन भाषा में अनेक ग्रन्थों की रचना हुई है। इन भाषाओं के विद्वानों ने वेदों के विभिन्न अंगों को अपनी कृतियों द्वारा पल्लवित किया है जिसकी जानकारी वेद के जिज्ञासुओं के लिए आवश्यक ही नहीं अत्यन्त अनिवार्य भी है। यद्यपि विद्वान् लेखक ने 'वैदिक अनुशीलन का इतिहास' नामक प्रकरण में पाश्चात्यों द्वारा रचित ग्रन्थों का यत्र-तत्र वर्णन किया है परन्तु उचित तो यह होता कि प्रत्येक अध्याय के अन्त में उससे सम्बन्धित समस्त ग्रन्थों की सूची दे दी जाती जिससे पाठक उन ग्रन्थों को पढ़कर अपने ज्ञान की वृद्धि कर सकते। उदाहरण के लिए जहाँ 'ऋक्संहिता' का वर्णन हुआ है वहाँ उस परिच्छेद के अन्त में ऋग्वेद के मूल पाठ के संस्करण, सायण भाष्य सहित इसके संस्करण, इसका अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं में अनुवाद तथा इसके ऊपर लिखे गए आलोचनात्मक ग्रन्थों की सूची एक ही साथ दे देनी चाहिए थी। 'ऋग्वेद' की सामान्य जानकारी के लिए घाटे की 'लैक्चर्स आन ऋग्वेद' अच्छी पुस्तक है। इसी प्रकार 'ऋग्वेद' के धर्म के सम्बन्ध में ग्रेसओल्ड का 'रिलिजन आफ दि ऋग्वेद' उपयोगी ग्रन्थ है। परन्तु इन ग्रन्थों का इस पुस्तक में कहीं उल्लेख नहीं है। वेद की व्याख्या-पद्धति वाले प्रसंग में पाश्चात्य विद्वानों के 'हिस्टारिकल मैथड' तथा भारतीय विद्वानों के 'ट्रेडिशनल मेथड' की सुन्दर व्याख्या की गई है। इधर डॉ० आनन्दकुमार स्वामी ने 'ए न्यू एप्रोच टू दि वेदाज़' नामक अपने ग्रन्थ में वेदों की व्याख्या के लिए एक नई प्रणाली की ओर संकेत किया है। इसका उल्लेख यहाँ होना चाहिए था।

वैदिक संस्कृति वाले खण्ड में आर्यों के धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक जीवन की विशद चर्चा की गई है। परन्तु वैदिक सभ्यता का प्रचार अन्य देशों में कैसे हुआ इस पर भी प्रकाश डालना चाहिए था। सिन्धु घाटी की सभ्यता तथा भूमध्य सागरीय संस्कृति से वैदिक संस्कृति की तुलना अपेक्षित है। इस दिशा में बम्बई के फादर एच० हेरास ने जो नवीन अनुसन्धान किया है उसका भी उल्लेख आवश्यक है। 'वैदिक विज्ञान' की चर्चा इधर कुछ विद्वान् किया करते हैं। पं० मधुसूदन ओझा इसके बहुत बड़े प्रतिष्ठापक थे। इस मत का भी खण्डन या मण्डन होना चाहिए। भारतीय साहित्य तथा संस्कृति पर वैदिक साहित्य तथा संस्कृति का कितना व्यापक तथा सर्वांगीण प्रभाव पड़ा है उसकी विस्तृत मीमांसा होनी चाहिए थी। लेखक ने इसका उल्लेख अवश्य किया है परन्तु वह संक्षिप्त और अधूरा है।

१. **'वैदिक साहित्य और संस्कृति', पृष्ठ ५३०।**

२. **वही।**

आशा है अगले संस्करण में इन त्रुटियों का संशोधन तथा अभावों की पूर्ति कर दी जायगी।

अन्त में हम उपाध्यायजी को इतनी सर्वांगपूर्ण पुस्तक को लिखने के लिए हृदय से बधाई देते हैं और आशा करते हैं कि हिन्दी-जगत् इस ग्रन्थ-रत्न का समधिक स्वागत करेगा।

*जगन्नाथ राय शर्मा*

## संस्कृत आलोचना

साहित्य के मर्म तक पहुँचने के लिए आलोचना उतनी ही आवश्यक है जितना भाषा के मर्म तक पहुँचने के लिए भाषा-विज्ञान। इसीलिए इन दोनों विषयों के शास्त्रों को सबसे पहले जन्म देने और विकसित करने का गौरव उस वृद्ध भारत को ही प्राप्त है जिसने संसार के सबसे प्राचीन एवं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'ऋग्वेद' की रचना की थी। वैदिक युग में भाषा-विज्ञान का प्रारम्भ हो चुका था इस बात का आभास तो 'शिक्षा' नामक वेदाङ्ग से मिल जाता है, किन्तु आलोचना के प्रारम्भ का उस युग में पता नहीं चलता। आलोचना-शास्त्र का हमारे साहित्य के किस युग में उद्भव हुआ यह बतलाना कठिन है। पं० रामदहिन मिश्र ने 'काव्यालोक' में लिखा है कि साहित्य-शास्त्र का प्राचीन नाम 'क्रिया-कल्प' है। उनके अनुसार वात्स्यायन के 'काम-सूत्र' में इसका उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी लिखा है कि 'क्रिया-कल्प' शब्द का प्रयोग वाल्मीकि रामायण में भी हुआ है जिसे दण्डी ने 'क्रिया विधि' के नाम से अपना लिया है।[२] यदि यह बात सत्य है तो आलोचना-शास्त्र का उद्भव आदिकवि के युग में ही माना जा सकता है।

साहित्य की आलोचना की विधि बतलाना हँसी-खेल नहीं। इस कार्य के लिए भाषा, साहित्य, मनोविज्ञान एवं दर्शनों का प्रकाण्ड पाण्डित्य अपेक्षित है। उक्त विषयों के ज्ञान के अतिरिक्त इस कार्य के लिए सशक्त एवं प्रखर प्रतिभा की भी पूरी-पूरी आवश्यकता है।

किसी भाषा के समग्र साहित्य का मर्म पूरा-पूरा समझना, मीमांसा की सारी विधियों[३] का उपयोग करके उसका तात्पर्य-निर्णय करना, और साहित्य-प्रेमियों के समक्ष उस साहित्य के अंगो-प्रत्यंगों का विवेचन करके उसके समझने-समझाने का मार्ग निश्चित करना लोहे के चने चबाना है और इस कार्य में हमारे संस्कृत के आचार्य जिस हद तक सफल हुए हैं उतने विश्व की किसी भी भाषा के आलोचक नहीं हो सके हैं। हमारे संस्कृत के प्रमुख आचार्यों में भरत, भामह, दण्डी, वामन, उद्भट, आनन्द वर्धन, अभिनव गुप्त, कुन्तक, महिम भट्ट,

१. **लेखक—पं० बलदेव उपाध्याय एम० ए० साहित्याचार्य; रीडर, संस्कृत तथा पाली विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी। प्रकाशक—शारदा मन्दिर, काशी, १९५५ ई० मूल्य ५॥) पृष्ठसंख्या—५७९**

२. **'काव्यालोक', प्रथम उद्योत, पृष्ठ ११।**

३. **उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता फलम्।**
**अर्थवादोपपत्ती च, लिंग तात्पर्य निर्णये॥**

मम्मट, क्षेमेन्द्र और विश्वनाथ के पाण्डित्य एवं प्रतिभा की सीमा नहीं। उनमें से कितने तो ऋषि या सरस्वती के अवतार ही माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त लगभग दो सौ अन्य प्रमुख आचार्यों ने इस शास्त्र पर अपनी लेखनी चलाई है। कितने आचार्यों की ख्याति तो सुनी जाती है पर उनके ग्रन्थ प्राप्त नहीं होते। इसलिए आज हम अपने पूर्वजों द्वारा निर्मित विशाल साहित्य के मीमांसकों की ठीक-ठीक संख्या बतलाने में भी असमर्थ हैं। समय के परिवर्तन के साथ-साथ लोगों की साहित्यिक एवं दार्शनिक रुचि में भी परिवर्तन होते रहते हैं, अतएव आलोचना के क्षेत्र में भी परिवर्तन हुआ करते हैं। हमारे आलोचना-क्षेत्र में भी अनेक परिवर्तन हुए हैं जिन्हें अलंकारवाद, रीतिवाद, दर्शनवाद, वक्रोक्तिवाद, रसवाद एवं औचित्यवाद नाम दिये गए हैं। प्रत्येक वाद के आचार्य अपने से पहले के वादों का खण्डन और अपने वादों का मण्डन करते हैं। इस खण्डन-मण्डन में उनके विचार इतने सूक्ष्म और गहन होते हैं कि उनका समझना साधारण प्रतिभा का काम नहीं। इस प्रकार इस समग्र आलोचना-क्षेत्र में विचरण करके उसका सार निकाल लेना किसी साहित्य, व्याकरण, दर्शन, मनोविज्ञान एवं आलोचना-शास्त्र के पारङ्गत पण्डित का ही काम है। यही काम 'संस्कृत आलोचना' में पण्डित बलदेव उपाध्यायजी ने किया है। इस दुष्कर कार्य को आपने अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य एवं कुशाग्र प्रतिभा द्वारा जितने सुन्दर ढंग से सम्पादित किया है वह सर्वथा सराहनीय है। इस ग्रन्थ में आपने तीन खण्ड रखे हैं—काव्य, काव्य-रूप एवं काव्य-सिद्धान्त। प्रथम खण्ड में आपने इस शास्त्र के नामकरण, इसकी प्राचीनता, इसकी विशिष्टता इत्यादि की आलोचना करके कवि और उसकी प्रेरणा, काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन एवं काव्य-लक्षण का विवेचन किया है। द्वितीय खण्ड में आपने काव्य के श्रव्य एवं दृश्य-रूपों के भिन्न-भिन्न भेदों का संक्षिप्त, किन्तु सारगर्भित विवेचन किया है। तृतीय खण्ड में आपने औचित्य, दोष, गुण, रीति, वृत्ति, वक्रोक्ति, अलंकार, दर्शन, रस इत्यादि की मीमांसा की है। प्रत्येक विषय को स्पष्ट करने की आपने भरपूर चेष्टा की है। भाषा सर्वत्र सरल एवं मनोरञ्जक है। संस्कृत-भाषा एवं साहित्य से अपरिचित जिज्ञासु भी इससे पूरा-पूरा लाभ उठा सकते हैं। भारतीय आलोचना-शास्त्र के अध्ययन का श्रीगणेश इसी ग्रन्थ से करना प्रत्येक आलोचक एवं आलोचना-प्रेमी के लिए श्रेयस्कर होगा। उपाध्याय जी ने इस ग्रन्थ को लिखकर हिन्दी-साहित्य के एक बड़े अभाव को दूर करने का स्तुत्य प्रयास किया है।[1]

*डॉ० भानुदेव शुक्ल*

## 'ब्रह्म और माया' तथा 'राजा निरबंसिया'

पिछले अनेक वर्षों से साहित्य में एक नई प्रवृत्ति का उदय हुआ है। वह प्रवृत्ति है नित नये एवं विलक्षण प्रयोगों द्वारा साहित्यिक कृतियों में विशिष्टता का समावेश करना। नये प्रयोग साहित्य में सदैव हुए हैं तथा समय एवं विषय के अनुकूल शिल्प आदि के स्वरूप परिवर्तित होते रहे हैं किन्तु ये प्रयोग कभी साधन नहीं रहे हैं। उनकी सार्थकता केवल परिवर्तित परिस्थि-

१. **संस्कृत-आलोचना—लेखक—श्री बलदेव उपाध्याय, प्रकाशक—प्रकाशन ब्यूरो, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश।**

तियों में बदली हुई धारणाओं एवं मान्यताओं को तथा नवोदित विचारों को समुचित रूप में व्यक्त करने में सक्षम साधन प्रस्तुत करने में रही है। सजग समीक्षक ने कभी साहित्यिक जड़ता का समर्थन नहीं किया है। नये प्रयोग आवश्यक होते हैं किन्तु इसी शर्त पर कि उनके द्वारा केवल कलात्मक अभिव्यक्ति, शिल्प-कौशल तथा भाषा की व्यञ्जना-शक्ति का विकास एवं संवर्द्धन हो। यदि प्रयोग केवल ऐसे तिलिस्म का निर्माण करने के लिए होता है कि जिसकी कुञ्जी ही न हो तो उस प्रयोग को घातक क्यों न स्वीकार करें?

प्रयोगों का प्रभाव कथा-साहित्य पर भी पड़ा है। काव्य के समान कथा-साहित्य अर्थ-हीन प्रयोगों के चक्कर में बहुत अधिक तो नहीं उलझ गया है तथापि अनूठेपन के प्रभाव से वह अछूता भी नहीं रह सका है। कहानी के नाम पर अनेक ऐसी रचनाएँ भी प्रस्तुत की जा रही हैं जिनके विविध स्वरूपों को देखते हुए अब यह भी सम्भव नहीं रह गया है कि इन सभी रचनाओं को अपने कलेवर में समेटने वाली 'कहानी' की सही परिभाषा भी दी जा सके। इस प्रकार के प्रयोगों की बाढ़ पश्चिम में प्रबल है।

हिन्दी-कहानी भी नये प्रयोगों की महामारी से सर्वथा अछूती न रह सकी है। नई-नई विधियों, नये-नये शिल्पों को अपनाया जाता है जिनमें अधिकांश को बाहर से आयात किया जाता है तथा इन अनूठे प्रयोगों के साँचे में ढली नई-नई रचनाएँ पाठक के सामने जब अपनी विचित्र आकृतियाँ लेकर उपस्थित होती हैं और जब इन रचनाओं के शिल्प की प्रशंसा के ढोल पीटने वाले भी मिल जाते हैं तब सीधे-सादे पाठक के सम्मुख इसके अरिरिक्त कोई चारा शेष नहीं रह जाता है कि अपनी 'ना-समझी' को मन-ही-मन स्वीकार करके इन अबूझ रचनाओं की कलात्मक श्रेष्ठता को चुपचाप स्वीकार कर ले।

हमारे उपर्युक्त कथन का यह अर्थ कदापि नहीं है कि हिन्दी-कहानी-साहित्य केवल घटोत्कच-माया द्वारा पाठकों को मोह निद्रा में सुलाने में ही रत है। नये शिल्प को अनेक कहानीकारों ने नये भाव-सत्यों को उत्कर्ष प्रदान करने तथा मानवीय मूल्यों को अधिकाधिक संरक्षण देने का साधन बनाया है। कला की सार्थकता कौतूहल की सृष्टि करने में नहीं है। यदि वह 'नई भावभूमियों का सृजन' नहीं कर सकती है तो अपाहिज एवं अशक्त है। यह बात कहानी के लिए भी सही है। भीष्म साहनी, द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण', नागार्जुन प्रभृति हिन्दी कहानीकार नये कहानी-शिल्पों को ग्रहण करके जिस शक्ति के साथ हिन्दी-कहानी में मानव-मूल्यों की स्थापना में प्रयत्नशील हैं तथा इनकी कहानियों में मानव-भावनाओं की जो गहराई मिलती है वह उत्साहवर्द्धक है। कमल जोशी तथा कमलेश्वर भी इसी वर्ग के नवदृष्टि-प्राप्त कहानीकार हैं। दोनों के नवप्रकाशित कहानी-संग्रहों 'ब्रह्म और माया' तथा 'राजा निरबंसिया' में जो कहानियाँ संग्रहीत हैं उनमें सहृदयता एवं सहानुभूति प्रमुख हैं; कलात्मक अभिव्यक्ति एवं शिल्प-कौशल की सार्थकता विचारों की गहनता एवं भावनाओं की गहराई के स्पष्ट अङ्कन में है।

'ब्रह्म और माया' में कमल जोशी की दस कहानियाँ संग्रहीत हैं। जोशीजी की लेखनी की शक्ति विविध प्रसंगों के सफल अङ्कन में प्रकट हुई है। 'कस्तूरी मृग' में हृदय में ही घुमड़ने वाली मौन वेदना की मार्मिक अभिव्यञ्जना हुई है। प्रकाश की असामयिक मृत्यु का आघात उसकी पत्नी शान्ति पर जितना गहरा हुआ है, निर्मला पर भी उसका आघात कम नहीं है।

प्रकाश शान्ति का सर्वस्व था तो निर्मला को भी उसने देवदूत की भाँति नव-जीवन का सन्देश दिया था। ऊँची क्रन्दन-ध्वनि में हृदय की वेदना व्यक्त करने वाली शान्ति से निर्मला की स्थिति भिन्न है। उसकी मौन वेदना में जो गहराई तथा गम्भीरता है वह पाठक के हृदय को सहसा छू-सा लेती है। क्योंकि उसमें दिखावा जरा भी नहीं है। यह मार्मिक अभिव्यञ्जना कहानीकार की प्रमुख विशेषता है। जहाँ व्यंग्य की मुखता है वहाँ भी भावना का रंग हल्का नहीं हो पाया है। 'वैनिटी' में मिथ्या दम्भ के दीवालियेपन को व्यक्त किया है। प्रसंग विडम्बना (आयरनी) के अनुकूल है। जगतराम दफ्तर में काम करने वाली लड़की से शादी करने को तैयार नहीं थे इसलिए दमयन्ती से उनकी शादी की बात टूट गई तथा इसी कारणवश उनके साथ शादी से पूर्व पुष्पा को नौकरी से त्यागपत्र देना पड़ा। भाग्य की मार के आगे वही जगतराम विवशता की स्थिति में पत्नी को नौकरी करने की अनुमति देने को बाध्य होते हैं। भाग्य की विडम्बना है कि पुष्पा ने जो नौकरी छोड़ी थी उस पर दमयन्ती को रख लिया गया है और दमयन्ती के सम्मुख जगतराम पत्नी को नौकरी दिलाने के प्रयास में संलग्न प्रकट होते हैं। जगतराम का मिथ्या दम्भ चूर-चूर हो चुका है तथा परिस्थितियों की मार खाये हुए इस व्यक्ति का जो स्वरूप सामने आता है उस पर आघात करने की तनिक इच्छा पाठक के हृदय में शेष नहीं रहती है।

व्यंग्य की कटुता के दर्शन 'नायक नायिका' कहानी में होते हैं। मिस्टर चड्ढा तथा उनकी पत्नी निर्मला भौतिकवादी सभ्यता के नमूने है। पति-पत्नी के बाह्य-स्वरूप एवं स्वभावों में जमीन-आसमान का अन्तर होते हुए भी दोनों की अन्तर्वृत्तियाँ समान हैं। चड्ढा बाहर से एकदम कुरूप, शुष्क तथा कठोर अंकित हुआ है। कलाओं के प्रति उसके हृदय में उतना ही लगाव है जितना किसी भी असंस्कृत एवं कुरुचि-सम्पन्न व्यक्ति के हृदय में हो सकता है। दूसरी ओर निर्मला सुन्दर, कलाप्रिय तथा सुरुचिपूर्ण सुसंस्कृत नारी के रूप में प्रकट हुई है। ये तो हुए उनके बाह्य स्वरूप। अन्तर को देखा जाय तो दोनों स्वार्थी, क्रूर एवं अहं में सीमित दृष्टिगोचर होते हैं। अपने सुख में वे इतने अधिक रत हैं कि कोमल मानवीय भावनाएँ भी खो बैठे हैं। बच्चों के झंझट से दोनों इसलिए बचना चाहते हैं कि मौज में कमी आ जायगी तथा 'इच्छाओं की हत्या' करनी होगी। अपनी लालसाओं की पूर्ति में बाधक हर वस्तु को वे दोनों नृशंसता के साथ नष्ट करने में संकोच नहीं करते हैं। दोनों उपयुक्त नायक और नायिका हैं। स्वार्थ में संलग्न विलासी भौतिकवादी सभ्यता के ये दो प्रतिनिधि कुशलता के साथ अंकित हुए हैं। कहानीकार की भाषा की व्यञ्जक शक्ति एवं कहानी-शिल्प की सुघरता इस कहानी में पर्याप्त विकसित रूप में प्रकट हुई हैं।

कहानी-संग्रह की अन्य कहानियों में विभिन्न विशेषताएँ न्यूनाधिक रूप में मिलती हैं। 'ममता का बन्धन' में वातावरण-निर्माण तथा चित्रण की प्रधानता प्रमुख हैं। समाज के निम्न वर्ग के सफल चित्रण के साथ यह प्रकट हुआ है कि इस गर्हित माने जाने वाले जन-समाज में मानवीय तत्त्व कम नहीं होते हैं। मानवीय-सहृदयता एवं सहानुभूति इस वर्ग में मिस्टर चड्ढा के वर्ग से अधिक ही नहीं मिलती है अपितु इस दृष्टि से यह वर्ग अपेक्षाकृत समृद्ध एवं उच्च है। स्वार्थ-विमुक्त मानवीय गुणों के वितरण में यह वर्गगत भिन्नता कुछ अंशों में 'ब्रह्म और माया' कहानी में भी मिलती है। कड़ाके की सर्दी में भी रामनामी दुपट्टा

ओढ़कर पूजा करने वाले रामानन्द से सीधा-सादा महेश ईमानदार तथा चरित्रवान् है। महेश में ही वह मानवीय सहृदयता मिलती है जो जड़ हृदय को भी छूकर पिघला सकती है। 'नर्स' कहानी की नायिका वीणा केवल नर्स ही नहीं है, उसमें नारीत्व भी प्रबल है। भाग्य की विडम्बना है कि उसको जीवन भर, शादी के उपरान्त भी, नर्स-कर्म से छुटकारा नहीं मिलता है। पति के घर में भी वह केवल नर्स ही रह जाती है।

'राजा निरबंसिया' कहानी-संग्रह में कमलेश्वर की सात कहानियाँ संग्रहीत हैं। नये शिल्प का इन कहानियों में सुन्दर एवं सफल प्रयोग हुआ है। अन्तर्भावनाओं का जटिल-जगत् इन कहानियों में बड़ी सफाई के साथ खुलता चलता है। कथाओं में गति से अधिक गहराई मिलती है। घटनाएँ स्वयं अनायास ही नहीं घटती चलती हैं प्रत्युत लेखक स्वयं ही अपनी रुचि के अनुकूल घटनाओं की चित्रावली को रुकते-बढ़ते हुए देखता, विश्लेषण करता चलता है। नई शिल्प-विधि की यह विशेषता है कि पाठक तटस्थ दर्शक-मात्र नहीं रह जाता है। घटनाओं के विकास-क्रम में उसका कौतूहल कम रहता है, कहानी की मूल भावना में वह अधिक लुप्त हो जाता है।

'देवा की माँ' में कहानीकार ने एक साधारण-सी कथा के माध्यम से एक प्रभावोत्पादक वातावरण का निर्माण किया है। दरियाँ बुनकर अपना तथा अपने पुत्र का पेट पालने वाली एक आत्म-विश्वासपूर्ण एवं आस्थावान नारी कहानी का मुख्य आकर्षण-केन्द्र है। इस सबला एवं स्वाभिमानिनी नारी के सरल एवं सात्विक मातृत्व की गरिमापूर्ण आभा से वातावरण अत्यन्त पवित्र हो गया है। मातृत्व का एक अन्य स्वरूप 'धूल उड़ जाती है' कहानी में प्रकट हुआ है। इस कहानी में मानवीय उदारता प्रमुख है। नसीबन मजहबी सीमाओं को तोड़कर मातृत्व का परिचय देती है, उसमें मानवीय संवेदना प्रधान है। कहानी में हम देखते हैं कि मजहब के नाम पर मानव-समाज का बँटवारा करने वाले सिद्धान्तों की धूल उड़ती रहती है जब कि चिरन्तन मानवीयता धरती के समान अडिग एवं स्थिर रहती है। कुचली हुई नारी भावना की घुटन को मार्मिकता के साथ व्यञ्जित करते हुए कहानीकार ने 'आत्मा की आवाज़' में पाठक की शील-संवेदनाओं को छूने का प्रयास किया है। 'दुनिया की व्यावहारिक और वास्तविक ज़िन्दगी' से 'मुर्दों की दुनिया' में भी सम्बन्ध सीधा दृष्टिगोचर होता है। भावनाहीन, स्वार्थपरक तथा यन्त्रवत् चलती रहने वाली 'मुर्दों की दुनिया' में भावुक निसार का जिन्दा रहना भी कठिन-सा है। नई दुनिया में चमक-दमक और सुव्यवस्था अवश्य है, किन्तु उसमें वह जानी-पहचानी हार्दिकता और आत्मीयता कहाँ है? नई दुनिया के साथ समझौता करने में मानवीय-संवेदनायुक्त निसार असमर्थ है। 'पानी की तस्वीर' कहानी का वातावरण सबसे भिन्न है। वातावरण कुछ रहस्यपूर्ण एवं स्वप्निल मादकता लिये हुए है। कलाकार का दायित्व कठोर होता है। अपने दायित्व के भारी बोझ को ढोता हुआ कलाकार नई सृष्टि को गढ़ने के लिए अमरता का अभिशाप स्वीकार करता है। कहानी में भावना एवं बुद्धि का सुन्दर समन्वय हुआ है। 'सुबह का सपना' में युद्ध एवं हिंसा से निपीड़ित मानवता की शान्ति की आकांक्षा को व्यक्त करते हुए शान्ति की रक्षा के मधुर स्वप्न की अवतरणा हुई है। कहानी में प्रतीकों का निर्वाह सुन्दरता से हुआ है।

कहानी-संग्रह की अन्तिम कहानी 'राजा निरबंसिया' में कमलेश्वर की कहानी-कला

का निखार अधिक स्पष्ट हुआ है। इसमें दो कहानियाँ समानान्तर बढ़ती हैं। एक तो 'एक राजा थे' शैली की सामान्य प्रचलित लोक-कथा है तथा दूसरी यथार्थ जीवन से सम्बन्धित एक पारिवारिक कथा है। दोनों कथाएँ स्वतन्त्र रूप से सामान्य कोटि की हैं, किन्तु कहानीकार की कुशलता ने इन्हीं कथाओं को विशेष रूप प्रदान कर दिया है। प्रायः समान दिशा में बढ़ती हुई इन कहानियों में जब अन्तिम मोड़ आता है तब दोनों की दिशाएँ विरोधी हो जाती हैं। आदर्श-प्रधान लोक-कथा के अन्त से भिन्न प्रकार का अन्त यथार्थवादी कहानी को अधिक प्रभावोत्पादक बना देता है। दोनों समानान्तर बढ़ने वाली कहानियों के विपरीत अन्त तुलनात्मक चित्र प्रस्तुत करते हैं तथा शिल्प-विधि की इस खूबी ने कहानी की शक्ति को बढ़ा दिया है।

उपर्युक्त दोनों कहानी-संग्रहों में संवेदनात्मक मानवता को प्राधान्य मिला है। कमल जोशी तथा कमलेश्वर—दोनों कहानीकारों ने समाज के जिन वर्गों को अपनी कहानी में अपनाया है वे प्रायः मध्यम तथा निम्न वर्ग के हैं। कमल जोशी जहाँ वातावरण-निर्माण में अधिक सफल हैं वहाँ कमलेश्वर की दृष्टि बाह्य वातावरण की अपेक्षा अन्तर्प्रदेश को खोजने में अधिक सफल हुई है। परिणामस्वरूप कमल जोशी की कहानियों में गति अधिक है तथा कार्य-व्यापार में नाटकीय विकास दृष्टिगोचर होता है वहाँ कमलेश्वर की भावना-प्राधन शैली अनुभूतियों को जगाने में अधिक समर्थ है। कमल जोशी में प्रखर व्यंग्य करने की क्षमता है तथा उनकी अभिव्यक्ति में बौद्धिकता अधिक है। कमलेश्वर की कहानियाँ मोहक वातावरण निर्माण करके मनुष्य की 'शील-संवेदनाओं को' उकसाने के प्रयास में संलग्न हैं। दोनों कहानीकार भिन्न शैलियों को ग्रहण करके समान उद्देश्य की ओर प्रवृत्त हैं। इनका उद्देश्य हमारी चेतना और संवेदन शक्ति को जगाना है। दोनों कहानीकारों की कहानियाँ कल्पना के पंखों पर नहीं उड़तीं बल्कि दुनिया की व्यावहारिक और वास्तविक जिन्दगी से उनका सीधा सम्बन्ध हैं। धरती के हर कण-कण के प्रति लगाव, हर मोड़ के प्रति जिज्ञासु-भाव और गड्ढे को पाट देने की सहानुभूतिपूर्ण विह्वलता उनमें प्रचुरता से मिलती हैं।[1]

---

१. 'ब्रह्म और माया'—कमल जोशी, शुभ्रा प्रकाशन, जमशेदपुर।
'राजा निरबंसिया'—कमलेश्वर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०, दिल्ली।